M.Katyayana

म.म. सुधाकरद्विवेदि-ग्रन्थमाला
[चतुर्थं पुष्पम्]

श्रीटोडरमल्लविरचितं

वास्तुसौख्यम्

आचार्यश्रीकमलाकान्तशुक्लकृतया हिन्दी-व्याख्यया

कुलपतेः प्रो. वेम्पटिकुटुम्बशास्त्रिणः प्रस्तावनया च विभूषितम्

सम्पादकः
आचार्यश्रीकमलाकान्तशुक्लः
सम्मानिताचार्यः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य
वाराणसी



वाराणस्याम्

२०६७ तमे वैक्रमाब्दे १९३२ तमे शकाब्दे २०१० तमे ख्रैस्ताब्दे

ISBN : 81-7270-011-3

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षकः—
निदेशकः, अनुसन्धान-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी।

❒

प्रकाशकः—
प्रो. नरेन्द्रनाथपाण्डेयः
निदेशकः, शिक्षण-शोध-प्रकाशन-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी - २२१००२



❒

प्राप्तिस्थानम्—
विक्रय-विभागः,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य
वाराणसी - २२१००२

❒

तृतीयं संस्करणम् - ५०० प्रतिरूपाणि
मूल्यम् - १०५.०० रूप्यकाणि

❒

मुद्रकः—
श्रीजी प्रिण्टर्स
नाटी इमली, वाराणसी।

M.M. SUDHĀKARADVIVEDI-GRANTHAMĀLĀ

[Vol. IV]

VĀSTUSAUKHYAM

OF

ŚRĪ ṬOḌARAMALLA

with the Hindi Commentary

FOREWORD BY

DR. MANDAN MISHRA

Vice-Chancellor

EDITED BY

ĀCĀRYA ŚRĪ KAMALĀKĀNTA ŚUKLA

Sammānita-Ācārya

Sampurnanand Sanskrit University

Varanasi



VARANASI

1996

Research Publication Supervisor–
Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi–221 002.



Published by–
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Publication Officer,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi–221 002.



Available at–
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi–221 002.



First Edition– 500 Copies
Price– Rs. 120.00



Printed at–
TARA PRINTING WORKS
Kamachha, Varanasi–221 010.

शुद्धिपत्रम्

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पङ्क्तिः
तिष्ठे दिनस्य	तिष्ठेद्दिनस्य	३	४
एवं उपमन्त्री	एवं अर्थमन्त्री	६	१९
शिलान्यासादिनः	शिलान्यासादि न	४१	७
२५x२७=६७५x८	८x२५x२७÷ २७	४१	१८
=५४००÷२७	=५४००÷२७=शे. २७		
को १४	व १४	४३	१७
ग्रहों	गृहों	५९	८
मनुया	मनुजा	६३	१२
अप्रतिबिद्धा	अप्रतिषिद्धा	७६	४
१६ शूर्प	१६. शूर्प	८३	१२
च	x	९४	२
कामो भोग	कामोपभोग	९४	२३
युक्ति	उक्ति	१३२	११
होते	होते हैं।	१३७	२४
सितरस्य	सितस्य	१४१	५
गृंह	गृहं	१४१	५
हस्तमात्रां	हस्तमात्रं	१५०	१२

मङ्गलाचरणम्

हेमाद्रितनयालवालजनितो ऋद्धिप्रभारञ्जित-
श्चण्डारातिनिसूदनाग्रजनितभ्रातृभुजावर्द्धितः ।
कालव्यालविलासिलालितवपुर्भक्तार्तिहर्ता विभुः
पायात्सः सुरवृन्दवन्दितपदः सद्बुद्धिसिद्धिप्रदः ॥१॥

विद्वत्ताप्ररसप्रबोधकुशला विद्युत्प्रभाभासिता
नीरक्षीरसुधापरागरसिता विद्याविभाभूषिता ।
दीप्तिः सा सुरसिन्धुदुग्धजलधिनिःस्यूततेजोवृता
यस्य त्वं हि चिरं वसेद्भुवितले पीयूषपाकोद्भवः ॥२॥

श्रौतस्मार्तक्रियाविधूतजनको जातः कुले भास्करः
सत्सिद्धान्तकुलीनमौलिमुकुटो भूदेवप्राणप्रियः ।
मायाम्भोधिविवेकमन्थनपटुर्माङ्गल्यसान्द्राचलः
जीव त्वं हि सदा विशुद्धहृदयो विद्यानिवासः सुधीः ॥३॥

कमलाकान्तशुक्लोऽयं त्वत्तः सम्प्राप्तसंवलः ।
भाषानिबद्धसंलग्नो वास्तुसौख्यस्य तत्त्वतः ॥४॥

संश्लिष्टपदविच्छिद्य दूरीकृत्य दुरूहताम् ।
विमलाविमलीकर्तुं वन्दे वाणीविनायकौ ॥५॥

पद्यसंख्यां विनिर्दिश्य जिज्ञासूनां हिताय वै ।
अर्थिनाञ्चोपकाराय सताञ्चैव सुखाप्तये ॥६॥

विमलां विनिवेद्याथ श्रीमन्ते चरणान्तिके ।
बोभूयतेऽत्र विबुधैर्हंसैः क्षीरनिधाविव ॥७॥

भूमिका

प्रायः सभी प्रामाणिक शास्त्रों का मूल वेद है। इसी क्रम में "कात्यायनचरणव्यूह" के अनुसार 'स्थापत्य' अथर्ववेद के उपवेद के रूप में प्रतिष्ठित है, जो विश्व की समस्त कलाओं का उद्‌गम स्थान है। प्रस्तुत ग्रन्थ (वास्तुसौख्यम्) भी इसी विषय का उपस्थापक है। इस कला के अधिष्ठाता देव 'विश्वकर्मा' जी हैं। "वेदाङ्गं ज्यौतिषं चक्षुः" अर्थात् वेद-पुरुष के छः अंगों में ज्यौतिषशास्त्र नेत्र माना गया है। अतः वेदपुरुष (भगवान् शंकर) के तीन नेत्र स्वरूप ज्यौतिष के तीन भाग हैं—

सिद्धान्त, संहिता और होरा। इसी त्रिस्कन्धात्मक ज्यौतिषशास्त्र के संहितास्कन्ध के अन्तर्गत प्रस्तुत ग्रन्थ समाहित है।

वैदिककाल से ही ज्यौतिषशास्त्र अतिपुरातन परम्परा में मानव जीवन के विविध पक्षों पर अतिसूक्ष्मता से विचार करता आ रहा है, जिस क्रम से मानव सभ्यता का विकास हुआ, उसी क्रम से विविध रूपों में इस चमत्कारी विद्या का भी विकास हुआ, जैसे—जीवन में आने वाली प्राकृतिक आपदाओं, घटने वाली घटनाओं और होने वाली बीमारियों को जानने, बाधारहित घर का निर्माण तथा भूमिगत पदार्थों के ज्ञान आदि का उपयोग। ज्यौतिष का यह संहिता भाग, चार पुरुषार्थों के साधन का महत्त्वपूर्ण अंग है, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति का अपना घर होना चाहिए; क्योंकि इसके विना व्यक्ति के श्रौत और स्मार्त कर्म पूर्णफल नहीं देते। यदि उक्त कर्म किसी दूसरे की भूमि या घर में करते हैं, तो उसके पुण्यफल का भागीदार भूमिस्वामी या गृहपति बन जाता है। जैसा कि भविष्यपुराण में उल्लिखित है—

गृहस्थस्य क्रियाः सर्वा न सिद्धयन्ति गृहं विना ।
यतस्तस्माद् गृहारम्भप्रवेशसमयौ ब्रुवे ॥
परगेहे कृताः सर्वाः श्रौतस्मार्तक्रियाः शुभाः ।
न सिद्धयन्ति यतस्तस्माद् भूमीशः फलमश्नुते ॥

ग्रन्थकार ने घर की भौतिक उपयोगिता के साथ-साथ आध्यात्मिक आवश्यकता को अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से देखा व समझा है।

'**वास्तुसौख्यम्**' नामक इस ग्रन्थ के माध्यम से घर की निर्माणविधि व प्रवेशविधि पर विधिवत् प्रकाश डाला है।

घर के दो अंग हैं—निर्माण और प्रवेश। प्रवेश भी तीन प्रकार का होता है—अपूर्व, सपूर्व और द्वन्द्वाभय प्रवेश। सर्वथा नवीन घर में किये जाने वाले प्रवेश को अपूर्व प्रवेश, यात्रावसान में किये जाने वाले प्रवेश को सपूर्व प्रवेश और नये घर के रूप में परिणत पुराने घर में प्रवेश को द्वन्द्वाभय प्रवेश कहते हैं। यथा—

अपूर्वसंज्ञः प्रथमप्रवेशः यात्रावसाने च सपूर्वसंज्ञः ।
द्वन्द्वाभयं चाऽग्निभयादिजातं गृहप्रवेशं त्रिविधं वदन्ति ॥

इनमें अपूर्व प्रवेश महत्त्वपूर्ण है, जो सर्वथा नवीन घर में होता है। इसकी आवश्यक विधि को इस ग्रन्थ में विशेष रूप से समझाया गया है। जैसे— गृह-निर्माण से पूर्व शल्योद्धार और दिक्साधन आदि प्रमुख सिद्धान्त विचारणीय हैं। शल्योद्धार के अनेक प्रयोग दिये गयें हैं, जिनके साथ यह भी व्यवस्था दी गयी है कि यदि उक्त प्रयोगों से मनःशुद्धि न हो तो संदिग्ध स्थान की मानव पर्यन्त मिट्टी निकाल कर वन्दरों के शिर जैसे गोल पत्थरों से उस खाते को भर, सविधि कुटाई कर देने पर, घर बनाने योग्य भूमि (क्षेत्र) हो जाती है।

दिक्साधन—गणित के माध्यम से दिक्साधन का विधान है, जिसके विना निर्मित घर को दिङ्मूढ़ कहते हैं। जिसमें निवास मृत्युकारक बताया गया है और समकोण, समचतुर्भुज, समकोण, समायत क्षेत्र में गृह-निर्माण की प्रशंसा की गयी है।

इसके उपरान्त गृह-निर्माण के मुहूर्त्तों का विधान है, जिसमें स्पष्ट निर्देश है कि इन मुहूर्त्तों से हटकर बने घर में—भूतबाधा, रोगवृद्धि, सन्तान का अभाव और दरिद्रता बनी रहती है। यथा—

अजपाद्वितये याम्यमित्रेन्द्रानिलभेषु च ।
यत्कृतं शनिसंयुक्ते गृह्यते यक्षराक्षसैः ॥
ज्येष्ठानुराधके चैव भरणीस्वातिपूर्वभे ।
धनिष्ठास्वपि ऋक्षेषु शनितिष्ठे दिनस्य च ॥
कृपणो नामतः प्रोक्तो धनधान्यादिसंकुलः ।
पुत्रो जातो यथा चास्मिन् गृह्यते यक्षराक्षसैः ।

शुभ सम्पादित मुहूर्त्त में निर्मित गृह में उत्पन्न होने वाला बालक राजा अथवा कुबेर के समान धनी होता है। यथा—

श्रवणाषाढयोश्चैव रोहिण्यां चोत्तरात्रये ।
गुरूवारे कृतं वेश्म राजयोगेन युज्यते ॥
तद्गृहे जातपुत्रस्य राज्यं भवति निश्चितम् ।

उक्त प्रकार से संशुद्ध भवन को फूल, माला, तोरण आदि माङ्गलिक चिह्नों से सुसज्जित करना चाहिए और एकाशीतिपद-वास्तुपदाश्रित देवताओं की पूजा, बलि के अनन्तर सांवत्सरोदिष्ट शुभमुहूर्त्त में गृहप्रवेश करना चाहिए। उक्त नियमों के पालन से गृहस्थ चिरसुखी एवं शान्ति से जीवन व्यतीत करता है। ऐसा उपदेश भी समझाया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में वराह, लल्ल द्वारा व्याख्यात वसिष्ठ, गर्ग, ब्रह्म, शम्भु, विश्वकर्मा के सिद्धान्तों का अनुसरण किया गया है, जिसके संवल में वृद्धगर्ग, गर्ग, कश्यप प्रभृति ऋषियों के वचनों का टिप्पणी के रूप में उद्धरण दिया गया है। यथा—

गर्गात्पराशरः प्राप्तस्तस्मात्प्राप्तो बृहद्रथः ।
बृहद्रथाद् विश्वकर्मा प्राप्तवान् वास्तुशास्त्रकम् ॥
स विश्वकर्मा जगतो हितायाकथयत् पुनः ।
वासुदेवादिषु पुनर्भूलोके भक्तितोऽब्रवीत् ॥

इदं पवित्रं परमं रहस्यं यः पठेन्नरः ।
स्यात्तस्यावितथा वाणी सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥
वसिष्ठगर्गब्रह्मोक्तं विश्वकर्मविनिर्मितम् ।
वराहलल्लव्याख्यातं शास्त्रतत्त्वं विमृश्य च ॥
निरूपयामो विदुषां सन्तुष्ट्यै वास्तुनिर्णयम् ॥इति ॥



ग्रन्थकार का जीवनवृत्त

किसी भी प्रसिद्ध व्यक्ति के जीवन के साथ स्वाभाविक रूप से स्थान या वंश विषयक विवाद जुट जाता है। नृप टोडरमल्ल के साथ भी कुछ इसी प्रकार का मतभेद है। जैसे— बनारस के लोगों द्वारा बनारस के एक भूमिहार परिवार का होना बताया जाना, फैरर महोदय का इनकी जन्मभूमि सीतापुर जनपद बताना,[१] कुछ अन्य इतिहासकारों का लाहौर के पास चुनियाँ गाँव के खत्री परिवार का बताया जाना[२] और अन्त में बहुशः इतिहासकारों के मत से अवध के किसी कायस्थ परिवार का बताया जाना[३] आदि।

जबकि अधिकांश इतिहासकारों का निर्णयात्मक ऐक्य है कि टोडरमल्ल का जन्म टण्डन वंश में हुआ था[४]। इसी टण्डन वंश को बाला परिवार भी कहा गया है। यह परिवार चार स्थानों— पंजाब, यूनाइटेड प्रोविन्स (संयुक्त प्रान्त), अवध और आगरा के लिए प्रसिद्ध है[५]। इनके वंश की वंशावली में मातृपक्ष का नाम नहीं मिलता, पर इनके सात पूर्वजों का नाम इस क्रम से प्राप्त है— १-बाल (ये भगवान् विष्णु के उपासक थे), २- अट्टाली, ३- दामोदर, ४- अस्सू (ये योद्धा और कृष्ण के भक्त थे), ५- द्वारकादास, ६- द्विजमल्लदास एवं ७- भगवतीदास। टोडरमल्ल भगवतीदास के पुत्र थे। जैसा कि दानसौख्य में उद्धृत है— "राजा सोऽयं नृपभगवतीदासवंशावतंसो"।

उपर्युक्त वर्णन में टोडरमल्ल के नाम के साथ 'मल्ल' और इनके पूर्वजों के नाम के साथ 'दास' पदवी संलग्न होने से वास्तव में वंशानुगत सम्बन्ध न होने का भ्रम पैदा होता है। जिसका कारण सम्भवतः क्रिया में भेद होना है; क्योंकि इनके पूर्वज किसी न किसी देवता के भक्त थे। भक्ति की इसी लम्बी परम्परा का उपस्थापन नाम के साथ 'दास' पदवी से किया जाने लगा हो, अर्थात् टोडरमल्ल

---

१. हिन्दी विश्वकोश, खण्ड- ५, पृ. १८०।

२. वही।

३. टोडरानन्दम्, पृ. x x ।

४. " . . . . श्रीटण्डनवंशमण्डनमणेः श्रीटोडरक्ष्मापतेः"। (टोडरानन्द, पृ. ३९४)

५. वही, पृ. xiii ।

के बचपन का नाम वास्तव में टोंडरदास रहा हो, बाद में इनकी बहादुरीपरक योग्यता से प्रसन्न होकर अकबर ने 'मल्ल' की उपाधि दे दी हो।

तदनन्तर लेखक टोडरमल्ल और योद्धा टोडरमल्ल दोनों एक नहीं हो सकते। सिद्धान्ततः आक्रमणकारी और प्राशासनिक टोडरमल्ल को राजनीति के अतिरिक्त शास्त्रचिन्तन के लिए अवसर कहाँ? जो शास्त्रचिन्तक और लेखक बन सकें; अपितु अकबर से प्रशंसा और राज्य पाने के लोभ में बहुत से हिन्दू राजाओं को पराजित कर अकबर के राज्य में मिलाया था, जिसके प्रतिशोध में स्वयं खत्रीवंश के लोगों ने असफल प्राणघातक हमला किया था।

इसी लूटपाट के क्रम में—ज्यौतिष, वैद्यक आदि अनेक शास्त्रों से सम्बन्धित पाण्डुलिपियाँ इन्हें प्राप्त हुई थीं[१], जिनका सम्पादन नारायणभट्ट और उनके सहयोगियों ने किया है और कर्तृत्व रूप में टोडरमल्ल का नाम दिया है[२]। ये उस समय अकबर के दरबारी प्रधानमन्त्री के रूप में कार्य कर रहे थे। इस प्रकार टोडरमल्ल का प्रधानमन्त्री के रूप में कार्य करना, अलभ्य पाण्डुलिपियों का इनके नाम से प्रकाशन आदि से स्पष्ट होता है कि इनके जीवन का अन्तिम क्षण बौद्धिक और राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त प्रतिष्ठापरक रहा है। टोडर के सिद्धान्तों का प्रयोग आज भी भारतीय राजस्व विभाग में किया जाता है[३]।

ये अकबर की सेना में आने से पहले शेरशाह सूरी के राज्यकर्मचारी थे। कुशाग्र-बुद्धि के कारण सभी कर्मचारी इनका समादर करते थे। बाद में अकबर के शासन-काल में क्रमशः सैनिक, सहायक दीवान भूमि एवं उपमन्त्री पद पर कार्य करने के बाद वर्ष १५८२ से १५८९ तक प्रधानमन्त्री के रूप में कार्य करते हुए वर्ष १५८९ के अन्त में स्वर्गवासी हो गये। इन्होंने अकबर के दरबार में अपने ३० वर्षों के कार्यकाल में विश्वनाथ मन्दिर के निर्माण से लेकर हिन्दू राजाओं का

---

१. टोडरानन्द, भूमिका-भाग, पृ. xxviii।

२. (क) "....काश्यां श्रीविश्वनाथसन्निधौ - - - लिखितम्"। (वही, पृ. xxix)

(ख) "श्रीमन्महाराजाधिराजटोडरमल्लकारिते"। (वही, पृ. ३९८)

(ग) डॉ. ए. एस. अल्तकर— 'हिस्ट्री आफ बनारस'— पृ. ३९-४३।

३. हिन्दी विश्वकोश, खण्ड-५, पृ. १८०।

विनाश करने के बाद भी शास्त्रों का सम्पादन कराकर, हिन्दू धर्म के प्रति अपना समर्पणभाव दिखाया है।

ग्रन्थ-परिचय

इतिवृत्त के अनुसार टोडरमल्ल को वैद्यक आदि के साथ-साथ ज्यौतिष की भी पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई थीं, जिनका सम्पादन सात प्रकरणों से युक्त "**संहिता-सौख्य**" नाम से कराया गया है। **वास्तुसौख्यम्** इन्हीं सात प्रकरणों में से अन्तिम प्रकरण है।

इसके सम्पादन का समय १५८९ ई. बताया गया है, जिसकी प्रति आज सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वतीभवन पुस्तकालय में उपलब्ध है[१], जो संवत् १८८६, सन् १८२९ में नन्दराम उपाध्याय जी मनिकपुरकृत प्रतिलिपि है[२]। पी. एल. वैद्य के अनुसार "नीलकण्ठ[३]" द्वारा लिखित 'संहितासौख्य' के अन्तर्गत "वास्तुसौख्यम्" का मंगलाचरण और सरस्वतीभवन पुस्तकालय से प्राप्त "वास्तुसौख्यम्" का मंगलाचरण, दोनों एक ही हैं। (इस प्रकार) स्पष्ट है कि प्राप्त प्रतिलिपि मूल "वास्तुसौख्यम्" की प्रतिलिपि है।

संहितासौख्य के छः अन्य प्रकरणों के नाम इस प्रकार हैं —१- अद्भुतसौख्य, २-व्यवहारसौख्य, ३- संस्कारसौख्य, ४-विवाहसौख्य, ५-यात्रासौख्य एवं ६-प्रकीर्णसौख्य[४]। उक्त वास्तुसौख्य सम्प्रति सविशेष नौ भागों में विभक्त किया गया है—

प्रथम भाग में—मंगलाचरण, ग्रन्थ का उद्देश्य और वास्तु-पुरुष का स्वरूप वर्णित है।

द्वितीय भाग में—भूमिपरीक्षा, दिक्साधन, ग्राह्य काष्ठ, वृक्षशल्य (यह विधि अपने आप में अद्भुत विज्ञान का द्योतक है) आदि का ज्ञान, शकुन (द्वारा शल्यज्ञान

१-टोडरानन्द की भूमिका, पृ. XXX।

२- वास्तुसौख्यम्, पृ. ४४।

३- "श्रीमद्दैवज्ञानन्तसुतनीलकण्ठविपश्चिद्विरचिते टोडरानन्दे . ." । (पृ. ३९८, पं. १७)

४- आदावद्भुतसौख्यानि व्यवहारस्ततः परम् ।
संस्काराः परतश्चापि विवाहादिनिरूपणम् ॥१॥
यात्राप्रकीर्णकश्चापि वास्तुसौख्यमिति क्रमात् ।
सप्तप्रकरणी चेति संहितासौख्यमिष्यते ॥२॥ (टोडरानन्द, पृ. ३९६)

प्रकारादि), प्रश्नवर्ण से शल्योद्धार का वर्णन है ।

तृतीय भाग में—वास्तुचक्र, शिलान्यासोपक्रम, जीर्ण गृह सम्बन्धी काष्ठ के उपयोग का विषय है ।

चतुर्थ भाग में—दिक्साधन, आय-व्ययादि साधन आदि विषय का विवेचन किया गया है ।

पञ्चम भाग में— राजा प्रभृति सर्व साधारण के गृहों का प्रमाण उल्लिखित है ।

षष्ठ भाग में—वास्तु के देवी-देवताओं का विभाग व मर्मस्थान का विवेचन किया गया है ।

सप्तम भाग में—गृह के मुख्य द्वार का निर्णय, द्वार वेध व स्थिर लक्ष्मी-निवास की विधि का वर्णन है ।

अष्टम भाग में—गृहनिर्माण के मुहूर्त्तों का विचार किया गया है ।

नवम भाग में—गृहजातक, शंकुरोपण, मन्त्रभाग, वास्तुपूजन, वास्तुशान्ति, प्रवेश की विधि दी गयी है ।

इसके अतिरिक्त टिप्पणी के रूप में ऋषियों, आचार्यों का प्रमाणान्तर पद्यों, परिशिष्ट में उपयुक्त वचनों और गृहार्थ शुद्ध-परिष्कृत नव नक्षत्रों की साधित पिण्डसारिणी और शंकुनिवेश, शिलान्यासादि पूजाविधान, विशेष शल्योद्धार के माध्यम से कटे हुए वृक्ष के जड़ को देखकर वृक्ष के मध्यभाग में जल, सर्प, मेढक, गोधा (छिपकली) आदि का ज्ञान होने का विधान किया गया है । अब तक की प्रचलित तथा उपलब्ध पुस्तकों के विधान से विलक्षण शल्यज्ञान की विधि बताई गयी है । अतः प्रस्तुत ग्रन्थ ज्यौतिषी एवं गृहस्थ के लिए अनुपम उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसी आशा एवं कामना है ।

■

विषयानुक्रमणिका

विषयाः	पृष्ठाङ्काः

प्रथमभागस्य

द्वितीयभागस्य

तृतीयभागस्य

चतुर्थभागस्य

पञ्चमभागस्य

षष्ठभागस्य

सप्तमभागस्य

अष्टमभागस्य

नवमभागस्य

परिशिष्टभागस्य

■

॥ श्रीमङ्गलमूर्त्तये नमः । श्रीगणेशाय नमः ॥

वास्तुसौख्यम्

अथ प्रथमो भागः

यन्नामस्मरणाद् यान्ति विलयं विघ्नसञ्चयाः ।

तन्नमस्ये गणाधीशं भजद्भ्यो बुद्धिदायकम् ॥१॥

जो स्मरण मात्र से विघ्न समूह नष्ट करते हैं और भक्तों को बुद्धि देते हैं, उन गणेश जी को नमस्कार करता हूँ ॥१॥

यत्पादाम्बुजमाध्वीकं संसेव्यावाप्तसन्मतिः ।

जयत्येव गुरुः साक्षादनन्तो भक्तवत्सलः ॥२॥

जिनके चरण कमल के सेवन से सद्बुद्धि प्राप्त होती है, उन अनन्तभक्तवत्सल गुरु की जय हो ॥२॥

गोविन्दपादकमलद्वययोजितमानसः ।

गृहसौख्यं तनोत्येष श्रीटोडरमहीपतिः ॥३॥

भगवान् गोविन्द के दोनों चरणकमलों में चित्त सन्निवेश कर मैं राजा टोडरमल वास्तुसौख्य नामक पुस्तक बनाता हूँ ॥३॥

वशिष्ठगर्गब्रह्मोक्तं विश्वकर्माविनिर्मितम् ।

वराहलल्लव्याख्यातं शास्त्रतत्त्वं विमृष्य च ॥४॥

निरूपयामो विदुषां सन्तुष्ट्यै वास्तुनिर्णयम् ।

यथामति धनारोग्यसौख्यकीर्तिविवर्द्धये ॥५॥

महर्षि गर्ग, ब्रह्म, वशिष्ठ आदि ऋषियों से उपदिष्ट विश्वकर्मा से विनिर्मित वराह-लल्ल से व्याख्यात वास्तुशास्त्र का विवेचन कर विद्वानों के संतोष एवं धन, आरोग्य, सुख, यश की सिद्धि हेतु यथामति वास्तु विषय उपस्थापित करता हूँ ॥४-५॥

अथ त्रिविधप्रवेशनिरूपणावसरेऽपूर्वसंज्ञः प्रथमः प्रवेश इत्युक्तम्, तत्रापूर्वप्रवेशोऽपूर्व(नूतन)गृहनिर्माणाय एव भवतीत्यनेन गृहनिर्माणजिज्ञासावसरं प्राप्तं तेन गृहारम्भसौख्यं विविच्यते।

अपूर्व-सपूर्व-द्वन्द्वाभय प्रवेश इन तीन प्रकार के प्रवेशों में अपूर्व प्रवेश नूतन गृह में ही होता है, इसलिए नूतन गृह निर्माण की जिज्ञासा से सुख-सुविधा प्राप्ति हेतु गृहारम्भ विधि का विवेचन करता हूँ।

यथात्र वशिष्ठः—

वास्तुज्ञानं प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ब्रह्मणा पुरा ।
ग्रामसद्मपुरादीनां निर्माणं सूक्ष्मतोऽधुना ॥६॥

पहले ब्रह्मा जी ने ग्राम, पुर व भवनों के निर्माण का सूक्ष्म विधान बताया है, उसी को मैं इस समय सूक्ष्म रीति से प्रस्तुत कर रहा हूँ॥६॥

तस्य प्रयोजनं भविष्यपुराणे—

गृहस्थस्य क्रियाः सर्वा न सिध्यन्ति गृहं विना ।
यतस्तस्माद् गृहारम्भप्रवेशसमयौ ब्रुवे ॥७॥

न सिद्ध्यन्तीति स्वल्पफला विफला वा भवन्तीत्यर्थः। गृहं तु स्वसत्तात्मकं भवति, यदुक्तं तत्रैव—

परगेहकृताः सर्वाः श्रौतस्मार्तक्रियाः शुभाः ।
निष्फलाः स्युर्यतस्तासां भूमीशः फलमश्नुते ॥८॥

गृहस्थ का समस्त श्रौत-स्मार्त (वैदिक-लौकिक) कार्य गृह के विना सफल नहीं होते, अथवा थोड़ा फल होता है; क्योंकि दूसरे के घर में किये हुए कर्म का फल गृहस्वामी को भी मिलता है। अर्थात् गृहेश भी कार्य के फल का भागी होता है, अतः स्वसत्तात्मक गृह-निर्माण आवश्यक है॥७-८॥

अत्र विशेषः स्मृतिभ्योऽनुसन्धेयः।

इस विषय में स्मृति-पुराणों से विशेष प्रयोजन जाना जा सकता है।

अथ वास्तुस्वरूपमाह वराहमिहिरः—

किमपि किल भूतमभवद्रुन्धानं रोदसी शरीरेण ।

तदमरगणेन सहसा विनिगृह्याधोमुखं न्यस्तम् ॥९॥

यत्र च येन गृहीतं विबुधेनाधिष्ठितः स तत्रैव ।

तदमरमयं विधाता वास्तुनरं कल्पयामास ॥१०॥

पूर्व काल में कोई अद्भुत अज्ञात स्वरूप व नाम का एक प्राणी प्रकट हुआ, उसका विशाल (विकराल) शरीर भूमि से आकाश तक व्याप्त था, उसे देवताओं ने देखकर सहसा पकड़ नीचे मुख करके उसके शरीर पर यथास्थान अपना निवास बना लिया (जिस देव ने उसके शरीर के जिस भाग को पकड़ा, वे उसी स्थान पर व्यवस्थित हो गये), उस अज्ञात प्राणी को ब्रह्मा जी देवमय वास्तु-पुरुष के नाम से उद्घोषित कर दिये ॥९-१०॥

अत्रैव बृहस्पतिः—

पुरा कृतयुगे ह्यासीन्महदद्भुतमुपस्थितम् ।

व्याप्यमानं शरीरेण सकलं भुवनं ततः ॥११॥

तद्दृष्ट्वा विस्मयं देवा गताः सेन्द्रा भयावृताः ।

ततस्तैः क्रोधसंतप्तैर्गृहीत्वा तं महासुरम् ॥१२॥

विनिक्षिप्तमधोवक्त्रं स्थितास्तत्रैव ते सुराः ।

तमेव वास्तुपुरुषं ब्रह्मा समभिकल्पयत् ॥१३॥

पूर्व के ९-१० श्लोकार्थ से स्पष्ट है ॥११-१३॥

॥ इति प्रथमो भागः ॥

■

अथ द्वितीयो भागः

तत्र भूमिपरीक्षणे वराहः —

क्षेत्रमादौ परीक्ष्येत गन्धवर्णरसप्लवैः ।

सुमध्वाज्यान्नपिशितं गन्धं विप्रानुपूर्वकम् ॥१४॥

सितेषद्रक्तहरितकृष्णावर्णा यथाक्रमात् ।

मधुरं कटुकं तिक्तं काषायरससन्निभम् ॥१५॥

गृहनिर्माण के लिए सर्वप्रथम भूमिपरीक्षण आवश्यक है, आचार्य वराहमिहिर के अनुसार गन्ध, वर्ण, रस व प्लव, ये चार विधि परीक्षण हेतु निर्दिष्ट हैं। विवरण निम्न है।

१- गन्ध-परीक्षा—

ब्राह्मण हेतु मधुगन्धा, क्षत्रिय के लिए घृतगन्धा, वैश्य के लिए अन्नगन्धा तथा शूद्र के लिए रक्तगन्धा भूमि सुखदायिनी है।

२. वर्ण-परीक्षा—

ब्राह्मण के लिए श्वेत, क्षत्रिय के लिए रक्त, वैश्य के लिए पीत, शूद्र के लिए कृष्ण (काली) भूमि प्रशस्त मानी गयी है।

३. रस-परीक्षा—

ब्राह्मणादि वर्णों के लिए क्रमशः मधुर, कड़ुआ, तिक्त (नीम की तरह) एवं कषाय स्वाद की भूमि प्रशस्त है।

४. प्लव-परीक्षा—

ब्राह्मणादि वर्णों के क्रम से उत्तर, पूरब, दक्षिण व पश्चिम प्लव भूमि प्रशस्त है। पानी का जिस दिशा में बहाव हो, उसी दिशा की वह भूमि प्लव होगी ॥१४-१५॥

अत्यन्त-वृद्धिदं नृणामीशानप्रागुदक्प्लवम् ।

अन्यदिक्षु प्लवं तेषां शश्वदत्यन्तहानिदम् ॥१६॥

सामूहिक दृष्टि से उत्तर, ईशान व पूरब की प्लव भूमि वृद्धिकारिणी एवं अन्य दिशा की प्लव भूमि निरन्तर हानिकारिणी होती है ॥१६ ॥

भूमिपरीक्षणेऽन्यप्रकारः—

तत्रारत्निमितं गर्तं खनित्वाऽन्तःप्रपूरयेत् ।
प्रातर्दृष्टे जले वृद्धिः समं पंके ब्रणे क्षयः ॥१७ ॥

तथा खातं कृत्वा निशादौ पानीयेन पूरयेदिति, प्रातर्दृष्टे जले वृद्धिः, पंके समम्. ब्रणे क्षय इति ।

भवन निर्माण हेतु यथानिर्दिष्ट स्थान पर एक हाथ लम्बा, एक हाथ चौड़ा व एक हाथ गहरा गड्ढ़ा खोदकर सायंकाल जल से भर दे, प्रातः निरीक्षण के समय खाते में जल है तो उत्तम, कीचड़ मात्र से मध्यम, फटा (दरार) हो, तो अधम (निषिद्ध) भूमि है ॥१७ ॥

दिक्साधनम्—

एवं लक्षणसंयुक्ते क्षेत्रे सम्यक्समीकृते ।
दिक्साधनाय[१] तन्मध्ये समं मण्डलमालिखेत् ॥१८ ॥

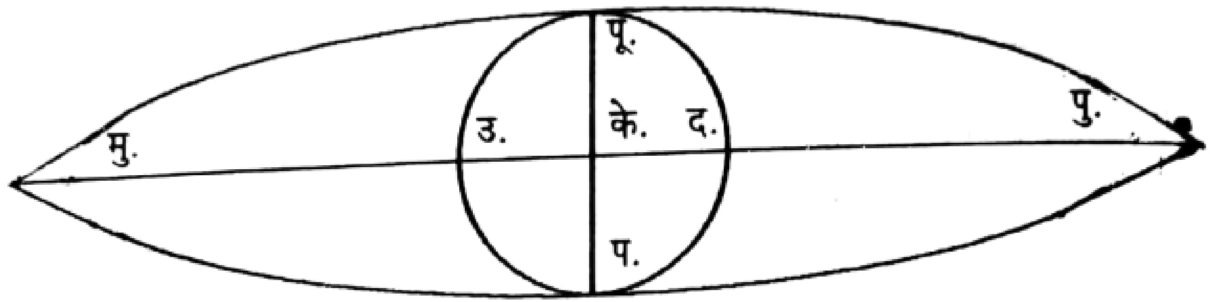
तत्र दिक्साधनं त्वस्मदुक्तगणितसौख्ये त्रिप्रश्नप्रकरणे द्रष्टव्यम् ।

उपर्युक्त परीक्षित भूमि को जलवत् समीकरण करके दिक्-साधन के लिए भूमि के मध्य में एक वृत्त बनावें और हमारे गणितसौख्य नामक पुस्तक से दिक्-साधन करें, यह ग्रन्थकार की सम्मति है ॥१८ ॥

---

१. जलवत् समीकृत भूमि पर वृत्त बनाकर उस वृत्त के मध्य केन्द्र में स्थापित १२ बारह अंगुल शंकु की छाया पूर्वाह्ण में वृत्त के जिस बिन्दु में प्रवेश करती है, वृत्तनिष्ठ वह बिन्दु पश्चिम व अपराह्ण में छाया निर्गमबिन्दुनिष्ठ वृत्त बिन्दु पूर्व होगा। इन दोनों बिन्दुओं से कृत मत्स्य रेखा के मुखपुच्छगत सरल रेखा दक्षिणोत्तर व इस दक्षिणोत्तर रेखा पर वृत्तकेन्द्रबिन्दु से कृत लम्ब रेखा वास्तविक पूर्वापर रेखा होगी, दोनों रेखाओं से छिन्न वृत्तप्रदेश पूर्व-पश्चिम एवं उत्तर-दक्षिण बिन्दु होंगे। यह दिग्ज्ञान की सामान्य विधि है। विशेष के लिए सिद्धान्त का अनुसरण करना चाहिए।

चित्र से दिक्साधन स्पष्ट है।



क्षेत्र परिचय— पू. द. प. उ. वृत्त है। मु. पू. पु. प. मत्स्याकार रेखा है। मु. उ. के. द. पु मत्स्य के मुखपुच्छ में गई रेखा है। इस रेखा के ऊपर पू. के. प. लम्ब रेखा है, ये दोनों रेखाओं से छिन्न वृत्तप्रदेश पू. पूर्व, द. दक्षिण, प. पश्चिम, उ. उत्तर दिशा का ज्ञापक है। यह अभीष्ट भूमि का दिक्साधन गृह निर्माण के लिए होगा।

यतो दिक्साधनं विना निर्मितगृहमशुभफलमित्याह विश्वकर्मा—

प्रासादे सदनेऽलिन्दे द्वारे कुड्ये विशेषतः ।

दिङ्मूढे कुलनाशः स्यात्तस्मात् संसाधयेद्दिशम् ॥१९॥

विश्वकर्मा के मतानुसार प्रासाद, सदन, अलिन्द, द्वार व भित्ति में दिङ्मूढ होने से कुल का नाश होता है। इसलिए निर्माण के पूर्व दिक्-साधन आवश्यक है ॥१९॥

वराहसंहितायां प्रकारान्तरेण भूमिपरीक्षणम्—

शस्तौषधिद्रुमलता मधुरा सुगन्धा

स्निग्धा समा न सुषिरा च मही नराणाम् ।

अप्यध्वनि श्रमविनोदमुपागतानां

धत्ते श्रियं किमुत शाश्वतमन्दिरेषु ॥२०॥

शस्तौषधयः—जाया जयन्ती (जीवन्ती) जीवितपुत्रादयः, द्रुमाश्च याज्ञियाः, लताः श्यामादयः, मधुरा लवणरसरहिता न सुषिरा मूषकादिबिलरहिता अजर्जरा व्रणरहिता वा।

पुनः भूमि-परीक्षण वराहमिहिर के अनुसार—

जिस भूमि पर विष्णुक्रान्ता, जया, जयन्ती, जीवितपुत्रा आदि लताएँ तथा याज्ञिक वृक्ष प्रसन्न मुद्रा में दिखायी दें तथा नीची ऊँची (विषम) मूषकादिबिल, स्फुटितादिदोषरहिता तथा मधुर स्वाद सुगन्ध प्रसन्नोन्मुखा भूमि हो एवं कुछ काल बैठने मात्र से मार्ग का श्रमजनित क्लेश दूर हो जाता हो और अतिशय शान्ति व आनन्द की अनुभूति होती हो तो, वहाँ निवास बनाकर रहने से क्यों नहीं शाश्वत सुख-शान्ति की अनुभूति होगी; अपितु अवश्य सुख-शान्ति मिलेगी ॥२० ॥

वराहमतेन निवासहेतुस्थाननिर्वाचनम्—

सचिवालयेऽर्थनाशो धूर्तगृहे सुतवधः समीपस्थे ।
उद्वेगो देवकुले चतुष्पथे भवति चाकीर्तिः ॥२१ ॥
चैत्ये भयं ग्रहकृतं वल्मीकश्वभ्रसङ्कुले विपदः ।
गर्तायान्तु पिपासा कूर्माकारे धनविनाशः ॥२२ ॥

ग्रन्थकर्ता की व्याख्या—

चैत्यादौ समीपस्थ इत्याद्यन्वयः — चैत्यो ग्रामप्रधानवृक्षः। चैत्यवृक्षेषु भूतेभ्यो भयं भवति, वास्तुनि तु बृहस्पतिनाभिहितत्वात्। श्वभ्रं बिलम्, गर्ता निम्नतरा भूः।

गृह निर्माण योग्य स्थान का निर्वाचन—

राजमन्त्री के घर के समीप घर बनाने से अर्थ का नाश, धूर्त-पाखण्डी के घर के समीप निर्मित गृह में पुत्र की हानि, देवसमूह (देवमन्दिर) के समीप निर्मित गृह में उद्वास (उच्चाटन) और चौराहे के पास घर निर्माण करने से अपवाद (अपयश) लगता है । चैत्य वृक्ष (ग्रामप्रधानवृक्ष, जिस पर ब्रह्म-वेताल भूतादिकों का वास रहता है) के समीप गृह में निवास से भूतबाधा होती है। पक्षी आदि प्राणियों के निवास (घोसला), खोखला (कोटर) आदि से विकृत वृक्ष के समीप, विमुवटि से आच्छादित, विवर बाहुल्य भूमि पर निवास करने से विपत्ति, गर्त्त (पानी एकत्रित होने वाले स्थान) के समीप निवास से पिपासा (तृषा) बढ़ती है व कूर्मपृष्ठ जैसी भूमि पर गृह निर्माण से धन-धान्य का नाश होता है ॥२१-२२ ॥

पुनः —

उदगादिप्लवमिष्टं विप्रादीनां प्रदक्षिणेनैव ।
विप्रः सर्वत्र वसेदनुवर्णं यथेष्टमन्येषाम् ॥२३॥

पूर्वार्ध श्लोक १५ से गतार्थ है। उत्तरार्ध ब्राह्मण चतुर्दिक्षु प्लव (उत्तर, ईशान, पूरब आदि सभी दिशा की प्लव) भूमि पर भी निवास कर सकते हैं; किन्तु शेष तीन वर्णों में क्षत्रिय पूरब दक्षिण पश्चिम प्लव, वैश्य दक्षिण पश्चिम प्लव, शूद्र पश्चिम प्लव में निवास बना सकता है ॥२३॥

गृहमध्ये हस्तमितं खात्वा परिपूरितं पुनः श्वभ्रम् ।
यदूनमनिष्टं तत् समे समं धन्यमधिकं यत् ॥२४॥
श्वभ्रमथवाऽम्बुपूर्णं पदशतमित्वा गतस्य यदि नोनम् ।
तद्धन्यं यच्च भवेत् पलान्यपामाढकं चतुःषष्ठीः ॥२५॥

श्वभ्रमवटं पूर्वोक्तमेवाम्बुना जलेन परिपूर्णं कृत्वा ततः पदशतमितं गत्वा पुनरागत्य अवलोकने तज्जलं न न्यूनं जातं तद्धन्यं शुभमिति। अन्यथा अधन्यं अशुभमिति, अन्यच्च यत्र मृत्तिका खातनिःसृता आढकमानेन चतुःषष्टिः पलानि भवेत्तद्धन्यमेव। एतदुक्तं भवति तत्र भूमौ खाते मृत्तिकां संगृह्य तथा अवटनिर्गतया मृदा आढकमापूर्य्य तोलयेद् मापयेत्, इति साधुः पाठः। यदि चतुःषष्टि-पलानि भवन्ति तद्धन्यं नान्यथेति।

पुनः खात द्वारा भूमि-परीक्षण—

गृहार्थ भूमि के बीच में एक हाथ घन हस्त का खात खोदें और उस खात को उस खात की मिट्टी से ही भरें, यदि बराबर हो जाय तो समान, गड्ढा न भरे तो अशुभ एवं मिट्टी अधिक होने पर शुभ होता है।

उपर्युक्त खाते को जल से पूर्ण करके समान गति से १०० पद जाकर लौट कर देखने पर खात में जल पूर्ण है, तो उत्तम, अन्यथा अशुभ है।

खात से निकली हुई मिट्टी आढकमान से ६४ पल हो तो उत्तम अन्यथा अशुभ है ॥२४-२५॥

मत्स्यपुराणे भूमिपरीक्षणमन्यत्—

अरत्निमात्रे गर्ते वै स्वनुलिप्ते तु सर्वतः ।
घृतमामसरावस्थं कृत्वा वर्तिचतुष्टयम् ॥२६ ॥
ज्वालयेद्भूपरीक्षार्थं सम्पूर्णं सर्वदिङ्मुखम् ।
दीप्तिपूर्वादि गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः ॥२७ ॥
वास्तुसामूहिको नाम दीप्यते यस्तु सर्वतः ।
शुभदः सर्ववर्णानां प्रासादेषु गृहेषु च ॥२८ ॥

मत्स्य पुराण के अनुसार एक हाथ घन हस्त खाते को गोमय से लीपकर कच्चे मिट्टी के कसोरे में घृत पूर्ण कर चार दिशाओं के निमित्त चार बत्ती चारों दिशाओं में प्रज्वलित कर दें, जब तक घृत है तब तक सभी बत्तियाँ जलती रहें, तो उसे वास्तुसामूहिक वास्तु कहते हैं। वह भूमि प्रासाद या गृह के लिए चारों वर्णों को शुभदायिनी होती है। यदि मात्र पूर्व की बत्ती जलती रहे तो ब्राह्मण, दक्षिण से क्षत्रिय, पश्चिम से वैश्य, उत्तर बत्ती के जलते रहने पर शूद्र के लिये शुभ-दायिनी होती है॥ २६-२८ ॥

भूमिपरीक्षणे पुनर्वराहमिहिरः —

श्वभ्रोषितं न कुसुमं यस्य प्रम्लायतेऽनुवर्णसमम् ।
तत्तस्य भवति शुभदं यस्य च यस्मिन् मनो रमते ॥२९ ॥
कुशयुक्ता शरबहुला दूर्वाकाशावृता क्रमेण मही ।
ह्यनुवर्णं वृद्धिकरी मधुरकषायाम्लकटुका च ॥३० ॥

वराहमिहिर के अनुसार जलपूर्ण खाते में सायंकाल ४ चार वर्णों के नाम से चार पुष्प रख दे, प्रातः जिस वर्ण का पुष्प मुर्झाया हुआ न हो, उस वर्ण के लिये वह भूमि श्रेष्ठ मानी जाती है, अन्यथा अशुभ है। या जिस व्यक्ति का जिस भूमि पर विना कारण मन प्रसन्न हो जाय, वह भूमि उस व्यक्ति के लिए सुखदायिनी होती है। जहाँ पर प्रसन्न प्रफुल्लित मुद्रा में कुशों की बहुलता हो, वह भूमि ब्राह्मणों के लिए प्रशस्त है और शर (डभिला) से पूर्ण भूमि

क्षत्रिय, दूर्वा की प्रचुरता से युक्त भूमि वैश्य और उशीर (कतरा) से सुशोभित भूमि शूद्रों के लिए प्रशस्त होती है। साथ ही मधुर स्वाद की भूमि ब्राह्मण, कषाय स्वाद की भूमि क्षत्रिय, खट्टा स्वाद की भूमि वैश्य, कड़वा (नीम का) स्वाद की भूमि शूद्रों के लिए वृद्धिकारिणी होती है ॥२९-३०॥

मत्स्यपुराणानुगता पुनः भूमिपरीक्षा —

हलकृष्टे भूमौ यवादिबीजानि वापयेत्, त्रिपञ्च-सप्तरात्रेण यत्र प्रोहन्ति तान्यपि श्रेष्ठोत्तमकनिष्ठा भूर्वर्जनीयेतरा[1] मतेति।

मत्स्य पुराण में निम्न प्रकार से भूमि की परीक्षा का निर्देश है। यह कि हल से भूमि जोतकर यवादि बीज बोने पर ३ दिन में बीज उगनेवाली भूमि श्रेष्ठ, ५ दिन में उत्तम, ७ दिन में बीज उगने वाली भूमि कनिष्ठ है। कनिष्ठ भूमि गृहनिर्माण कार्य में सर्वथा त्याज्य करनी चाहिए।

अत्र गर्गः प्रमाणान्तरमाह—

तस्मिन् वा धारयेच्छ्वभ्रे चित्रं माल्यमनुक्रमात् ।
यच्चिराम्लायते माल्यं तद्वर्णं तत्र चावसेत् ॥
आमे वा मृन्मये पात्रे दीपवर्तिचतुष्टयम् ।
यस्यां दिशि प्रज्वलति चिरं तस्यैव सा शुभा ॥

॥ इति द्वितीयो भागः ॥



१. वर्जनीयेति साधुः ।

अथ तृतीयो भागः

गृहस्य दिक्षु वृक्षशुभाशुभज्ञानाय वराहोक्तं यथा—

यामयादिष्वशुभफला जातास्तरवः प्रदक्षिणेनैते ।
उदगादिषु प्रशस्ताः प्लक्षवटोदुम्बराश्वत्थाः ॥३१॥
कण्टकिनो रिपुभयदाः क्षीरिणोऽर्थनाशाय ।
फलिनः प्रजाक्षयकरा दारूण्यपि वर्जयेदेषाम् ॥३२॥

फलिनः फलप्रधाना आम्रादयः। एषामित्युपलक्षणमपरेषामपि निन्द्य-वृक्षाणामपि।

घर के दक्षिण दिशादि क्रम से पाकर, वट, गूलर, पीपल, ये वृक्ष शुभ नहीं होते हैं; किन्तु यही वृक्ष उत्तरादि दिशा क्रम से शुभदायी होते हैं। जैसे—घर के उत्तर पाकड़, पूरब वट, दक्षिण गूलर व पश्चिम पीपल शुभदायी होते हैं।

गृह के समीप काँटा वाला वृक्ष शत्रुभय, दूधवाला अर्थनाश, फलवाला वृक्ष सन्तति की हानि करते हैं और इन वृक्षों की लकड़ी भी घर में नहीं लगानी चाहिए। अन्य निन्द्य वृक्ष भी घर के समीप शुभदायी नहीं होते हैं॥३१-३२॥

निराकरणम्—

छिन्द्याद्यदि न तरूंस्तान् तदन्तरे पूजितान् वपेदन्यान् ।
पुन्नागाशोकारिष्टबकुलपनसान् शमीशालौ च ॥३३॥

पूर्वोक्त अशुभदायी वृक्ष घर के समीप हो और उनके काटने में यदि कठिनाई प्रतीत हो तो, अशुभदायी वृक्ष और गृह के बीच में पुण्य शुभदायी वृक्षों या पुष्पों को लगा देना चाहिए।

शुभदायी वृक्ष — नागकेशर, अशोक, अरिष्ट, मवलेसरी, कटहल, शमी व शाल हैं। इन्हें लगाया जा सकता है॥३३॥

वृक्षविषये राजमार्तण्डवचनं यथा —

यत्र तत्र स्थिता वृक्षा विल्वदाडिमकेसराः ।
पनसो नारिकेलश्च शुभं कुर्वन्ति नित्यशः ॥३४॥

जयन्ती दाडिमारिष्टान् परित्यज्य शमी सदा ।
अहिपिद्धमलयान् वृक्षान् वास्तुमध्ये न रोपयेत् ॥३५ ॥
तत्र तत्र स्थिता वृक्षा जनयन्ती शुभोदयम् ।
प्रियंगुविल्वपुन्नागसिरीषाशोककेसराः ॥३६ ॥

जहाँ कहीं भी घर के समीप वेल, अनार, नागकेसर, कटहल, नारिकेल (नारियल) प्रियंगु, पुन्नाग, सिरीष, अशोक, केसर व शमी वृक्ष शुभदायी होते हैं। और सर्पविद्ध मलयपर्वत पर उत्पन्न होनेवाले चन्दन या अन्य वृक्ष, घर के समीप नहीं लगाना चाहिए। यहाँ जयन्ती-दाडिम-अनार वृक्षों का निषेध दिया गया है और इसके पूर्व मिहिर के अनुसार शुभ माने गये हैं। ऐसी स्थिति में लोकाचार व आचार्यसम्मति के अनुसार कार्य करना समुचित है।

(जयन्ती, दाडिम, अरिष्ट, शमी को छोड़ अन्य मलय पर उत्पन्न होने वाले चन्दनादि सर्पविद्ध वृ॰ घर के समीप न लगावें। इस अर्थ से पूर्व की संगति बैठ जाएगी ॥३४-३६ ॥

मत्स्यपुराणे निषिद्धवृक्षानाह—

अश्वत्थश्च कदम्बश्च कदली बीजपूरकः ।
गृहे यस्य प्ररोहन्ति स गृही न प्ररोहति ॥३७ ॥

पीपल, कदम्ब, केला, नीबू, ये वृक्ष जिस (वास्तु) घर पर बढ़ते हैं, उस भूमि पर गृही नहीं बढ़ पाता है ॥३७ ॥

बोधिग्रहः प्राक् प्रकरोति नैस्व्यं प्लक्षोऽपि रोगं दिशि दक्षिणस्याम् ।
भवेद्वटः स्त्रीकुलहा प्रतीच्यामुदुम्बरोऽप्युत्तरतो न वृद्धिः ॥३८ ॥

वास्तु के पूर्व में पीपल निर्धन, दक्षिण में पाकड़ रोग, पश्चिम में वट स्त्री व कुल की हानि, उत्तर में गूलर ह्रास करते हैं ॥३८ ॥

मालतीं मल्लिकां मोचां चिंचां श्वेतां पराजिताम् ।
वास्तुन्यां रोपयेद्यस्तु स शस्त्रेण निहन्यते ॥३९ ॥

मालती, मल्लिका, अमरस, इमली, श्वेता (विष्णुक्रान्ता) व अपराजिता वास्तु की भूमि पर जो लगाता है, (विकल्प से श्वेता अपराजिता) वह शस्त्र से मारा जाता है ॥३९ ॥

अथ शल्यशोधनं वास्तुशास्त्रे—

जलान्तं प्रस्तरान्तं वा पुरुषान्तमथापि वा ।

क्षेत्रं संशोध्य[१] वोद्धृत्य शल्यं सदनमारभेत् ॥४० ॥

जलान्त-प्रस्तरान्त (जहाँ तक एक तरह की मिट्टी हो) वा पुरुष तुल्य नीचे तक मिट्टी निकाल देने से गृह बनाने योग्य शुद्ध व निःशल्य भूमि मानी जाती है ॥४० ॥

तत्र शल्यज्ञानोपाये वराहसंहितायां तत्रादौ रेखाकरणम् —

कृष्टां प्ररूढबीजां गोऽध्युषितां ब्राह्मणैः प्रशस्ताञ्च ।

गत्वा महीं गृहपतिः काले सांवत्सरो दिष्टे ॥४१ ॥

भक्ष्यैर्नानाकारैर्दध्यक्षतसुरभिकुसुमगन्धैश्च ।

दैवतपूजां कृत्वा स्थपतीनभ्यर्च्य विप्रांश्च ॥४२ ॥

विप्रः स्पृष्ट्वा शीर्षं वक्षश्च क्षत्रियो विशश्चोरू ।

शूद्रः पादौ स्पृष्ट्वा कुर्याद्रेखां गृहारम्भे ॥४३ ॥

भूमि हल से जोतकर बीज बोने पर बराबर सभी भागों में एक समान अङ्कुर (सस्य) दिखाई देने पर अथवा ब्राह्मणों व गौ के एक साथ एक रात्रि निवास के बाद भूमि शुद्ध-पवित्र, गृह बनाने योग्य हो जाती है ।

इस प्रकार शुद्ध संशोधित भूमि पर सांवत्सर (ज्यौतिषी) के निर्दिष्ट शुभ समय (गृहारम्भमुहूर्त के अनुसार मुहूर्त) में दही, अक्षत, फल, पुष्प, गन्ध, धूप, दीप, नैवेद्य आदि मांगलिक द्रव्यों से वास्तु से सम्बन्धित देवताओं की पूजा व मिस्त्री (कारीगर) व ब्राह्मणों को भक्ष्य भोज्य, द्रव्य, परिधानादि से सन्तुष्ट कर, ब्राह्मण शिर से, क्षत्रिय वक्षस्थल से, वैश्य उरु से, शूद्र चरण से स्पर्श कर अभीष्ट शलाका से गृहारम्भ के समय रेखा करे ॥४१-४३ ॥

---

१ सम्मार्जनेनाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन वा ।
गवाञ्च सन्निवासेन भूमिः शुध्यति पञ्चभिः ॥

तस्यां भूमौ रेखाकरणे वस्तुनिर्देशो रेखायाश्च लक्षणम्—

अङ्गुष्ठकेन कुर्यान्मध्याङ्गुल्याऽथवा प्रदेशिन्या ।
कनकमणिरजतमुक्तादधिफलकुसुमाक्षतैश्च शुभम् ॥४४॥
शस्त्रेण शस्त्रमृत्युर्बन्धो लोहेन भस्मनाग्निभयम् ।
तस्करभयं तृणेन च काष्ठोल्लिखिता च राजभयम् ॥४५॥
वक्रा पादा लिखिता शत्रुभयक्लेशदा विरूपा[१] च ।
चर्माङ्गारास्थिकृता दन्तेन च भर्तुरशिवाय ॥४६॥
वैरमपसव्यलिखिता प्रदक्षिणं सम्पदो विनिर्देश्याः ।
वाचः परुषा निष्ठीवितं क्षुतं चाशुभं कथितम् ॥४७॥

अङ्गुष्ठ, मध्यमा, प्रदेशिनी अङ्गुली, सुवर्ण, चाँदी, मणि, मोती, दधि, फल, पुष्प, अक्षत इत्यादि किसी से भी गृहक्षेत्र भूमि को सीमाबद्ध करने के लिए यदि रेखा की जाय, तो स्वामी के लिए सुखदायिनी होती है। अथवा शस्त्र से की गई रेखा से गृहस्वामी शस्त्र से मारा जाता है। लोहा से बन्धन, भस्म से अग्निभय, तृण से तस्करभय, काष्ठ से राजभय, वक्र (टेढी), अस्पष्ट या पैर से लिखी, चर्म, कोयला, हड्डी व दाँत से की गई रेखा गृहस्वामी के लिए कल्याणकारिणी नहीं होती है। अपसव्य वामावर्त की गई रेखा से वैर और वामभाग से दक्षिणावर्त की गई रेखा सम्पत्तिकारिणी होती है। प्रश्नकाल में या आरम्भ के समय परुष कठोर वचन, अमांगलिक वाणी, निष्ठीवन (थूकना), छींक आदि अपशकुन अशुभसूचक हैं ॥४४-४७॥

शल्यज्ञाने अन्यदपि विधानम्—

अर्द्धनिर्मितं कृतं वा प्रविशन् स्थपतिर्गृहे निमित्तानि ।
अवलोकयेद् गृहपतिः क्व संस्थितः स्पृशति किं चाङ्गम् ॥४८॥

---

१. विरूपा, अदृश्य अथवा देखने में सुन्दर न लगने वाली रेखा भी शत्रुभय, क्लेशदात्री होती है।

रविदीप्तौ यदि शकुनिस्तस्मिन् काले विरौति परुषरवम् ।
संस्पृष्टाङ्गसमानं तस्मिन् देशेऽस्थि निर्देश्यम् ॥४९॥

(यदङ्गं संस्पृशति तदङ्गं वास्तुनरस्य यद्देशे तद्देशेऽस्थि शल्यं[1] वाच्यमित्यर्थः ।)

वास्तुभूमि की पुनः शकुन द्वारा परीक्षा—

अर्धनिर्मित, पूर्णनिर्मित वा जिस किसी स्थिति में आरम्भ या प्रवेश के समय शाकुनिक (शकुनज्ञाता) निमित्त शकुन का परीक्षण करें। गृहस्वामी वास्तुपुरुष के किस अङ्ग पर स्थित या बैठकर अपने किस अङ्ग का स्पर्श करता है, इसका संकेत कर लें। इस विषय में रवि की दीप्ति के अनुसार पूर्वोक्त शकुन का विचार कर शुभाशुभ फल का निर्देश करें। दीप्तादि विवेचन—सूर्योदय से १ प्रहर दिन तक ईशान कोण अङ्गारिणी, पूर्व दिशा दीप्ता, आग्नेयी धूमिता, शेष ५ दिशाएँ शान्ता कही जाती हैं। प्रथम प्रहर के अन्त से दूसरे प्रहर तक पूर्व दिशा अङ्गारिणी, आग्नेयी दीप्ता, दक्षिण दिक् धूमिता, शेष पाँच दिशाएँ शान्ता हैं। द्वितीय से तृतीय प्रहर तक आग्नेयी दिशा अङ्गारिणी, याम्या दीप्ता, नैऋती धूमिता, शेष ५ दिशाएँ शान्ता होती हैं। तीसरे से सूर्यास्त तक दक्षिण दिशा अंगारिणी, नैऋती दीप्ता, पश्चिम धूमिता, शेष ५ दिशाएँ शान्ता होती हैं। सूर्यास्त से रात्रि १ प्रहर तक नैऋती दिशा अङ्गारिणी, पश्चिमा दिक् दीप्ता, वायव्य धूमिता, शेष ५ दिशाएँ शान्ता होती हैं। रात्रि प्रथम प्रहर से दूसरे प्रहर तक पश्चिम दिक् अङ्गारिणी, वायव्य दिशा दीप्ता, उत्तर दिशा धूमिता, शेष ५ दिशाएँ शान्ता होती हैं। रात्रि द्वितीय प्रहर से तृतीय तक वायव्य दिशा अङ्गारिणी, उत्तर दिशा दीप्ता, ईशान दिशा धूमिता, शेष ५ दिशाएँ शान्ता होती हैं। रात्रि के तीसरे प्रहर के अन्त से सूर्योदय तक उत्तर दिशा अङ्गारिणी, ईशानी दीप्ता, पूर्वा धूमिता, शेष ५ दिशाएँ शान्ता होती हैं। आरम्भ या गृहप्रवेश के समय शकुन पक्षी रवि के तात्कालिक दीप्ता दिशा में बैठकर सूर्य की तरफ मुख करके यदि रुक्ष शब्दों का उच्चारण करती है, अर्थात् रोती है, तो ४८ श्लोक के अनुसार गृहस्वामी अपने जिस अङ्ग का स्पर्श किया

१. पृच्छाकाले गृहस्वामी यदङ्गं स्पृशति स्वकम्
भुवो हस्तप्रमाणेन शल्यं ब्रूयात्तदङ्गजम् ॥

है, उस अङ्गसम्बन्धी अस्थि (हड्डी) गृहस्वामी वास्तुभूमि पर जिस स्थान पर बैठा है, वहाँ पर अपने स्पृष्ट अङ्ग के समान नीचे उस भूमि में है। ऐसा निर्देश करना चाहिए ॥ ४८- ४९ ॥

शकुनसमयेऽथवाऽन्ये हस्त्यश्वश्वादयोऽनुवाशन्ते ।
तत्प्रभवमस्थि तस्मिंस्तदङ्गसम्भूतमेवेति ॥५० ॥

शकुन के समय या वास्तु भूमि पर गृहनिर्माण के समय शुभाशुभ विचार में पूर्वोक्त शकुन के अनुसार अथवा हाथी, घोड़ा, श्वान, उग्र, मार्जार (बिल्ली) प्रभृति कोई भी प्राणी (श्लोक ४९ के अनुसार) रवि दीप्ति की तात्कालिकी दिशा में शब्द करें या वास करें, तो गृहस्वामी वास्तुपुरुष के जिस अङ्ग पर बैठा या खड़ा है, वहाँ उस प्राणी के उस अङ्ग का शल्य वास्तुस्वामी द्वारा स्पर्श अङ्ग तुल्य नीचे है ॥५० ॥

अन्यदपि शकुनम्—
सूत्रे प्रसार्यमाणे गर्दभरावोऽस्थिशल्यमाचष्टे ।
श्वशृगाललङ्घिते वा सूत्रे शल्यं विनिर्देश्यम् ॥५१ ॥

सूत्र प्रसारण के समय गदहे का शब्द सुनाई दे या श्वान, शृगाल यदि सूत्र का उल्लङ्घन करें, तो उल्लङ्घन करने वाले प्राणी का शल्य गृहस्वामी जहाँ स्थित या बैठा है, (वहाँ पर) जिस अङ्ग का स्पर्श करे, उतने नीचे है ॥५१ ॥

तथा च गर्गः —

प्रश्नकाले गृहपतिः कस्मिन्नङ्गे समास्थितः ।
किमङ्गं संस्पृशेद्वापि व्याहरेद्वा शुभाशुभम् ॥
विलोक्य स्थपतिः पूर्वं पश्चाच्छल्यं विचारयेत् ।
शङ्खभेरीमृदङ्गानां पटहानां च निःस्वनाः ॥
दध्यक्षतानां पुष्पाणां फलानां दर्शनानि च ।
प्रष्टुश्च प्रवदेच्छल्यं वास्तुज्ञानविशारदः ॥

दीपदिक्संस्थितः पक्षी विरौति परुषं रवम्।
स्पृष्ट्वाङ्गसदृशं शल्यं तस्मिन् स्थाने विनिर्दिशेत्॥
निखनेदवनिं तत्र यदङ्गं ब्रुडते तथा।
गृहनाथस्य तत्राधः शल्यं निःसंशयं वदेत्॥
प्रश्नकाले गजो गौर्वा तुरगो गर्दभोऽपि वा।
उष्ट्रो वा सारमेयो वा मार्जारश्छागरोऽपि वा॥
यः प्राणी व्याहरेत् तत्र तद्भवं शल्यमादिशेत्।
प्रमाणं तस्य वक्तव्यं पूर्वोक्तविधिना ततः ॥इति॥

शुभमाङ्गल्यज्ञानम्—

दिशि शान्तायां शकुनिर्मधुरविरावी यदा तदा वाच्यः ।
अर्थस्तस्मिन् स्थाने गृहेश्वराधिष्ठितेऽङ्गे वा ॥५२॥

श्लोक ४९ के अनुसार शान्ता नाम दिशा में यदि शकुनि (पक्षी) मधुर शब्द करे, तो वह पक्षी जिस स्थान में बैठा है, उस स्थान में अर्थ है, अथवा गृहस्वामी वास्तुपुरुष के जिस अङ्ग पर स्थित है, उस स्थान में अर्थ है। अर्थ की नीचाई पूर्ववत् (यदङ्गं स्पृशति तदधो वाच्यम्) ॥५२॥

अन्यच्छुभाशुभज्ञानमाह—

सूत्रच्छेदे मृत्युः कीले चावाङ्मुखे महान् रोगः ।
गृहनाथस्थपतीनां स्मृतिलोपे मृत्युरादेश्यः ॥५३॥
स्कन्धाच्च्युते शिरोरुक् कुलोपसर्गोऽपवर्जिते कुम्भे ।
भग्नेऽपि च कर्मिवधश्च्युते करात् गृहपतेर्मृत्युः ॥५४॥

सूत्र प्रसारण के समय यदि सूत्र टूट (छिन्न) जाय, तो स्वामी की मृत्यु होती है। कील गाड़ते समय अधोमुख (मुड़ जाय/टूट जाय/फट जाय) हो जाय, तो स्वामी महान् रुग्ण हो जाएगा। गृहस्वामी व स्थपति (कारीगर) के भ्रम होने (स्मृतिभ्रंश) पर मृत्यु का भय है। (जिसको भ्रम हो उसकी मृत्यु का भय है) पूजा हेतु ले जाते समय कलश (घड़ा) यदि कन्धे से खिसक जाय, तो स्वामी के शिरोरोग

की सूचना है, यदि कलश लुढुक जाय, तो स्वामी के कुल के उपद्रव की सूचना है। कलश के भङ्ग (फूट जाने) होने पर कार्य करने वालों की हत्या की सूचना है तथा हाथ से गिर जाने पर स्वामी की मृत्यु की सूचना है ॥५३- ५४ ॥

अमांगलिकं प्राप्त अपशकुन की शान्ति हेतु गणेश-शान्ति करनी चाहिए।

वर्णपरत्वेन सूत्रनिर्माणनियममाह विश्वकर्मा—

विप्रस्य दर्भजं सूत्रं मौंजन्तु क्षत्रियस्य च ।
कार्पासन्तु विशश्चैव शूद्रस्य सनकल्पितम् ॥५५ ॥

ब्राह्मण के लिए कुश, क्षत्रिय के लिए मूँज, वैश्य के लिए कपास व शूद्र के लिए सन (सनई) का सूत्र होना चाहिए ॥५५ ॥

अथ वशिष्ठोक्तिः—

[१]षड्वर्गशुद्धसूत्रेण सूत्रिते धरणीतले ।
सूत्रिते समये तस्मिन्सूत्रं केनापि लङ्घितम् ॥५६ ॥
तदस्थि तद्विजानीयात्पुरुषस्य[२] प्रमाणतः ।
अभ्यक्तो दृश्यते यस्यां दिशि शल्यं समादिशेत् ॥५७ ॥
तस्यामेव तदस्थीनि सप्तत्र्यगुलमानतः ।
सूत्रिते समये यत्र श्वा सद्मोपरि संस्थितः ॥५८ ॥
तदस्थि तद्विजानीयात्षष्ट्यंगुलमिते क्षितौ ।
उन्मादे चागते तस्मिन्समये यत्र संस्थिते ॥५९ ॥
तदस्थि तत्र जानीयाद्धस्तद्वयमिते क्षितौ ।
चाण्डाले जटिले चापि यदा तस्यां दिशि क्षितौ ॥६० ॥
तदस्थि तत्र जानीयादशीत्यंगुलमानतः ।
नृगजाश्वपशूनां हि त्वेकस्मिन् यत्र संस्थितिः ॥६१ ॥
तदस्थि तत्र जानीयात्षष्ट्यंगुलमिते क्षितौ ।
तस्मिन्नवसरे यत्र गृहदाहो भवेद्यदि ॥६२ ॥

---

१. षड्गुणीकृत्येति पाठभेदः।
२. 'पुरुषाधः प्रमाणतः' इति पाठः समुचितः प्रतिभाति।

मेषास्थि तत्र जानीयात्पुरुषाष्टप्रमाणतः ।
सूत्रे विसूत्रिते तस्मिन् भिन्ने कुम्भेऽथवा यदि ॥
आदिशेन्निधनं तत्र दम्पत्योः क्रमशस्तदा ॥६३॥

॥ इति निमित्तजनित-शल्यज्ञानम् ॥

षड्गुणीकृत सूत्र भूमि पर वास्तु के भित्ति क्रम से प्रसारण करे। उस सूत्र का जो प्राणी उल्लङ्घन करता है, तो उसी प्राणी की हड्डी एक पुरुष (३ ॥ हाथ) नीचे है। तेल उवटन लगाया हुआ मानव उस भूमि पर जिस दिशा व स्थान में दिखाई दे, उस दिशा के उसी स्थान पर (३७) सैंतीस अंगुल के नीचे मानव की हड्डी है। सूत्र प्रसारण के समय वास्तु भूमि के जिस स्थान पर श्वान बैठ जाय, तो उस स्थान में श्वान की हड्डी (६०) साठ अंगुल के नीचे है। उन्मादी व्यक्ति (पागल) आकर जहाँ उपस्थित हो, वहाँ भी मानव की हड्डी दो (२) हाथ नीचे है। चाण्डाल व जटाधारी भूमि के जिस स्थान में उपस्थित हो, वहाँ भी (८०) अस्सी अंगुल नीचे मानव की हड्डी है। मनुष्य, हाथी, घोड़ा, कुत्ता, पशु आदि एक ही साथ जिस स्थान में उपस्थित हों, उसी स्थान में (६०) साठ अंगुल नीचे हड्डी है। भूमि संशोधन के समय यदि कहीं आग लग जाय, तो उस भूमि में आठ (८) हाथ नीचे बकरे की हड्डी है। भूमि संशोधन के लिए सूत्र प्रसारण के समय यदि सूत टूट जाय या घड़ा फूट जाय, तो क्रमशः दम्पति के मृत्यु की सूचना है ॥५६-६३॥

अथ प्रश्ने वर्णानुसार शल्यज्ञानं यथा—

अकारादिषु सर्वेषु दिक्ष्वष्टासु यथाक्रमात् ।
तार्क्ष्यमार्जारसिंहश्वासर्पाखुगजसायकाः ॥
दिग्वर्गानामियं योनिः स्ववर्गात्पञ्चमो रिपुः ॥६४॥

अवर्गादि अ, क, च, ट, त, प, य, श, ये आठ पूर्वादि दिशाओं में निवास करते हैं। इनके क्रम से अकारादि का स्वामी गरुण, कवर्ग का स्वामी मार्जार, चवर्ग का सिंह, टवर्ग का श्वान, तवर्ग का सर्प, पवर्ग का मूषक, य र ल व का स्वामी हाथी, स ष श ह का स्वामी शशक या मेष होते हैं। इनमें अपने से पाँचवाँ शत्रु होता है और ये अपनी दिशा में सबल रहते हैं ॥६४॥

अ[१]वर्गोच्चारिते प्रश्ने पूर्वस्यां च समादिशेत् ।
कुञ्जरस्थीनि पक्षे[२] वा पुरुषस्य प्रमाणतः ॥६५॥
कवर्गोच्चारिते प्रश्ने वह्न्यां दिशि करद्वयात् ।
खरशल्यं तदा ज्ञेयं राजदण्डो न संशयः ॥६६॥
चवर्गोच्चारिते प्रश्ने दक्षिणस्यां समादिशेत् ।
नरशल्यं गृहेशस्य मरणं कटिमात्रतः ॥६७॥
टवर्गोच्चारिते प्रश्ने नैऋत्यां च समादिशेत् ।
शुनः शल्यं नृशल्यं वा हस्तद्वयप्रमाणतः ॥६८॥
तवर्गोच्चारिते प्रश्ने प्रतीच्यां च समादिशेत् ।
सार्धहस्ते शिशोः शल्यं न तिष्ठति सदा गृही ॥६९॥
पवर्गोच्चारिते प्रश्ने वायव्यां शल्यमादिशेत् ।
आखोर्मेषस्य वा नूनं हस्तखातप्रमाणतः ॥७०॥
यवर्गोच्चारिते प्रश्ने उदीच्यामादिशेत्ततः ।
गजस्याश्वस्य वा शल्यं पुरुषस्य प्रमाणतः ॥७१॥
शवर्गोच्चारिते प्रश्ने त्वीशान्यां च समादिशेत् ।
शशस्योष्ट्रस्य शल्यं वा हस्तद्वयमिते क्षितौ ॥७२॥
हपयोच्चारिते मध्ये ब्रह्मस्थाने समादिशेत् ।
नृशल्यं गजशल्यं वा पुरुषस्य प्रमाणतः ॥७३॥

शल्यज्ञान के लिए प्रश्नकर्त्ता के प्रश्नाक्षरों में प्रथमाक्षर यदि अ हो तो गृह निमित्त भूमि के पूर्वभाग में १ पुरुष के नीचे हाथी या पक्षी का शल्य मृत्युकारक है।

प्रश्न का प्रथमाक्षर क हो तो दो हाथ नीचे गदहे की हड्डी है। इसमें गृह-स्वामी राजदण्ड पाता है।

---

१. अवर्गे इत्यत्र केवलम् 'अ' इत्यस्य ग्रहणमाचारात्।
२. पक्षिण इत्यर्थे 'पक्षे' इति ग्रहणं छन्दोभङ्गभयात्।

यदि प्रश्न का प्रथमाक्षर च हो तो दक्षिण में कटितुल्य नीचे मानव की हड्डी है। इसमें गृहस्वामी की मृत्यु होती है।

ट प्रश्न में नैऋत्यकोण में दो हाथ के नीचे कुत्ते या नर का शल्य है, जो मृत्यु-दायक है।

त प्रश्न से पश्चिम दिशा में सार्ध (डेढ़) हाथ के नीचे शिशु का शल्य है। इससे गृही का उद्वास होता है।

प प्रश्न से वायव्य दिशा में एक हाथ के नीचे मूषक या भेड़ की हड्डी है, जो अमंगलसूचक है।

य प्रश्न से उत्तर में गज या अश्व का शल्य एक पुरुष के नीचे है, जो पशु-मरण देता है।

श प्रश्न से ईशान कोण में दो हाथ के नीचे खरगोश या ऊँट की हड्डी है। यह दुःस्वप्नकारक है।

ह, य, प, इन तीन अक्षरों के प्रश्न में अपनी दिशाओं के अतिरिक्त मध्य में भी, पुरुष प्रमाण नीचे मनुष्य या हाथी का शल्य है, जिसमें कुल का नाश होता है॥ ६५-७३॥

वर्गाद्यक्षरभिन्ने तु प्रश्नस्याद्यक्षरं यदि।
न तत्र विद्यते शल्यं ब्रह्मोक्तत्वान्न संशयः[१]॥

वर्ग के प्रथमाक्षर से भिन्न यदि प्रश्न का प्रथमाक्षर हो तो ब्रह्मोक्त सर्वसम्मत रीति से उस भूमि में हड्डी नहीं है।

वास्तुशास्त्रे क्षेत्रशोधनप्रकारः —

दैवज्ञं तक्षकं देवान् पूजयित्वा प्रयत्नतः।
हलं पूर्वमुखं कृत्वा क्षेत्रशोधनमारभेत्॥७४॥

---

१. प्रश्नेऽप्युच्चारिते नूनं वर्गस्य यस्य पंचमे।
न तत्र विद्यते शल्यं ब्रह्मोक्तत्वान्न संशयः॥ इति पाठभेदः॥

वास्तुस्वामी,ज्यौतिषी, तक्षक (नागराज) व भूमि के देवताओं की विधिपूर्वक पूजा करके भूमिशोधन के लिए प्रथम पूर्वाभिमुख हल प्रारम्भ करके खनन द्वारा भूमिशोधन करे ॥७४ ॥

खननेन भूमिशुद्धि —

तालाः सप्त सुराणां षट् पञ्च विप्रस्य भूपतेः ।
वैश्यानां चैव शूद्राणां चत्वारो भूनिखातने ॥७५ ॥

प्रकारान्तर से खनन द्वारा भूमि-शुद्धि —

तालाब के लिए ७, देवस्थान हेतु ६, राजा व विप्र हेतु ५, वैश्य व शूद्र हेतु ४ हाथ नीचे तक भूमि खनन करना चाहिए ॥७५ ॥

एवं परीक्षयेत्क्षेत्रं सीरोत्कर्षयणे तथा ।
तस्मिन् यद् दृश्यते द्रव्यं तत्फलं वच्मि यत्नतः ॥७६ ॥

इस प्रकार हल से जोतकर भूमि-परीक्षण में जो द्रव्य निकले, उसका निम्न फल है ॥७६ ॥

पाषाणमिष्टिका वापि लोहं चापि विशेषतः ।
हलकाग्रेण दृश्येत शोभनं धनमेव वा ॥७७ ॥
गोशृङ्गं चैव दृश्येत तण्डुला दर्दुरास्तथा ।
दृश्यते खन्यमाने तु शोभनं तत्र निर्दिशेत् ॥७८ ॥
अंगारे तु भयं मृत्युमस्थीत्याद्योपलक्षितौ ।
पौरुषं पञ्चहस्तं वा खात्वा भूमिं विशोधयेत् ॥७९ ॥
त्रिहस्तं चैकहस्तं वा यावद्वाशुचि मन्यते ।
तावत्खनित्वा दोषांश्च तस्यां सर्वान् परीक्षयेत् ॥८० ॥

भूमिशोधन में हल से जोतने के समय पाषाण (पत्थर), ईंट, लोहा, गोसींग, चावल, मेढक निकले, तो धनधान्य की वृद्धि और कोयला निकले, तो भय व मृत्यु हो, अस्थि आदि से विशुद्धि करने के लिए एक पुरुष पर्यन्त या ५, ३ या १ हाथ भूमि खोदकर मिट्टी निकाल देने से निःसंदेह भूमि की शुद्धि हो जाती है। अथवा

जितना खोदने से भूमि की शुद्धि प्रतीत हो, उतना खोदकर मिट्टी निकाल देनी चाहिए॥ ७७- ८० ॥

पुनः संवत्सरं वापि षण्मासं मासमेव वा ।
तूष्णीं विधाय कर्त्तव्यं ज्ञात्वा दोषस्य गौरवम् ॥८१॥
गोवासैर्वर्षधाराभिर्मेदिनी धन्यतां गता ।
अन्तर्दोषान्विते देशेऽह्यज्ञानाद् गृहमाचरेत् ॥
प्राप्नोति परमं दुःखं तथा तत्र न वर्द्धते ॥८२॥

उपरोक्त विधियों के अनुसार भूमि शोधन के बाद भी मनःशुद्धि न हो सके, तो १ वर्ष, ६ मास या १ मास तक दोष के गौरव व अल्पत्व के अनुरूप शान्तिपूर्वक शुभाशुभ फल की प्रतीक्षा करनी चाहिए। अपि च अन्तर्दोष के अनभिज्ञ होने पर गोवास व वर्षा से भूमि शुद्ध हो जाती है। अन्यथा अन्तर्दोष के रहते गृहनिर्माण से परम दुःख एवं वृद्धि का अवरोध हो जाता है ॥८१-८२॥

॥ इति तृतीयो भागः ॥



अथ चतुर्थो भागः

एवं क्षेत्रं शल्योद्धारादिना परीक्ष्य भूशोधनं विधाय, तत्पाषाणैः पूरयेत्, ततो दिक्साधनपूर्वकं तत्र सूत्रप्रसारणादिना भुजचतुष्कसाम्यकरणसूत्रसाम्याभ्यां षड्वर्ग-परिशोधनं कार्यम् ।

भूमि शुद्धि के बाद षड्वर्ग-शुद्ध क्षेत्र गृह बनाने के योग्य होता है ।

तथात्र वशिष्ठः—

केशास्थिकीटशुद्ध्यर्थं पुरुषत्रयमानतः ।

खनित्वा पूरयेत्तत्र पाषाणैः सिकताम्बुभिः ॥८३ ॥

एवं परीक्षितं क्षेत्रं चादौ दिक्साधनं ततः ।

चतुरस्त्रं ततश्चात्र कार्यं षड्वर्गशुद्धितः ॥

चतुरस्त्रेण मार्गेण प्राकारं कारयेत् सुधीः ॥८४ ॥

महर्षि वशिष्ठ जी के अनुसार— पुरुषत्रय भूमि खनन से केश, अस्थि, कीट आदि रहित भूशुद्धि हो जाती है। तदनन्तर दिक्साधनादि षड्वर्गपरिष्कृत क्षेत्र प्राकारादि, प्रासादादि सदन बनाने योग्य होता हैं ॥ ८३- ८४ ॥

उक्तञ्च शिल्पशास्त्रे —

कपिशीर्षप्रमाणैश्च पाषाणैः पूरयेद्दृढम् ।

खातं तत्तु समं कृत्वा ततः प्राच्यां प्रसाधयेत् ॥८५ ॥

कपिशिरवत् पाषाण ग्राह्य है (जो गोल, चिकना पत्थर शालिग्रामी नदी (नारायणी) में उपलब्ध होता है, उस पत्थर से तात्पर्य है) । खननादि शुद्ध भूक्षेत्र को गोले पत्थरों से पूर्ण (भर) कर कुट्टनादि प्रक्रिया से दृढ़ बनाकर दिक्साधन में प्रथम पूर्व दिशा साधन करे। दिशासाधन के लिये पूर्व श्लोक १८ की टिप्पणी देखें ॥८५ ॥

ज्यौतिषचिन्तामणौ—

भाद्रत्रये शिरः प्राच्यां याम्यां मार्गत्रये शिरः ।

फाल्गुनत्रितये पश्चाच्छिरो ज्येष्ठत्रयोत्तरे ॥८६ ॥

भाद्रपद से तीन मास (भाद्रपद, आश्विन व कार्तिक) शेषनाग का शिर पूरब रहता है, मार्गशीर्ष, पूष एवं माघ में दक्षिण, फाल्गुन, चैत्र एवं वैशाख में पश्चिम, ज्येष्ठ, आषाढ़ एवं श्रावण मासों में उत्तर शिर रहता है ॥८६ ॥

मुखाद्द्वितीया खलु वामकुक्षिस्तृतीयदिक्पुच्छमितोऽस्य वामा ।

कुक्षिस्तु वास्तोः पुरुषस्य तत्र खातं विधेयं प्रथमं गृहादौ ॥८७ ॥

कल्पित शेषनाग के मुख से पीछे की दूसरी दिशा वामकुक्षि होती है। वामकुक्षि में गृह सम्बन्धी प्रथम खात का खनन श्रेयस्कर होता है ॥८७ ॥

शिरःखनेन्मातृ-पितृस्वहानिः पादौ खनेत्स्त्रीधनगोविनाशः ।

खनेत्तु पृष्ठे भयरोगपीडा कुक्षौ खनेत्स्त्रीधनपुत्रलाभः ॥८८ ॥

वास्तु नर के शिर में खनन से माता-पिता व धन की हानि, चरण के खनन से स्त्री-धन व गोवंश की हानि, पृष्ठ स्थान के खनन से भय, रोग, पीड़ा और वाम कुक्षि के खनन से स्त्री-पुत्र, धन का लाभ होता है ॥८८ ॥

अत्र पूर्वोक्तपद्येऽपि ह्यपरे पुच्छपदेन पादौ गृहीतवन्तो यतोऽस्मिन् पुरुष-वास्तुनिवेशे पुच्छकल्पनामानाभावादिति दिक् ।

कुछ आचार्यों ने पुच्छ शब्द से पाद का ग्रहण किया है। वास्तु पुरुष की कल्पना में पुच्छ की कल्पना अनुचित है, पुरुष को पुच्छ नहीं होता है।

तथा च वशिष्ठोऽत्र वास्तुनरत्वमाह —

पूर्वादिदिक्शिरा वामपार्श्वशायी प्रदक्षिणम् ।

नरवास्तुश्चरत्येव पूजनीयो गृहाधिपैः ॥८९ ॥

पूर्वदिशा में शिर करके वाम पार्श्व से सोया हुआ प्रदक्षिणावर्त्त भ्रमण करने वाला वास्तुपुरुष गृहस्वामी के लिए पूजनीय है ॥८९ ॥

वास्तुशब्दः पुल्लिङ्गोऽप्यस्ति "वेश्मभूर्वास्तुरस्त्रियामित्यमरः" इति।

महादेवेन तु—रत्नमालाटीकायां वास्तुनरो वत्सत्वेन न्यासः कृत इति। तन्मते पुच्छपदं यथाश्रुतमेव, वस्तुतस्तु नरवास्तुशब्देन नागादयोऽपि गृह्यन्ते। तत् केवलं संज्ञाभेदा एव, फलभेदाभाव इति पारिभाषिका एव शब्दा वेदितव्याः।

वास्तु शब्द पुल्लिङ्ग भी है, जैसा कि अमरकोशकार का वचन उद्धृत है। पुरुषवाच्य होने पर पुच्छ की कल्पना असंगत-सी प्रतीत होती है, तब भी वास्तु सम्बन्धी शिलान्यास कार्य में मुहूर्त के सम्बन्ध में वत्सचक्र की कल्पना की गई है। मात्र पारिभाषिक शब्द का अन्तर है, नामान्तर भेद से फल-भेद नहीं है।

तस्य च वामपार्श्वशायिनो दक्षिणभागे उदरं तदेव खननीयं पूर्वमित्युक्तं दीपिकायाम्।

वास्तु-पुरुष वाम पार्श्व से सोते हैं और उनका दक्षिण पार्श्व ऊपर की ओर होने से दक्षिण पार्श्व में ही खनन करना सर्वसम्मत है। "वामावर्तं प्रसार्य चरणादिना शेते" इत्यनेन नागः शेषो वेति कल्पितम्। वस्तुतस्तु नरवास्तुरेवेति। यथा—

पूर्वादिदिक् शिरः कृत्वा नागः शेते त्रिभिस्त्रिभिः।
भाद्राद्वै वामपार्श्वेन तस्य क्रोडे शुभं गृहम् ॥९०॥

अस्यार्थः—

यदा वामपार्श्वेन पूर्वशिराः शेते तदा पश्चिमे पुच्छं दक्षिणे क्रोडमुत्तरे पृष्ठमित्यनेन क्रमेण प्रदक्षिणमन्यत्रापि गणयेदिति सारसागरे व्याख्यातमिति।

पूर्व शिर, पश्चिम पुच्छ, दक्षिण क्रोड, (कुक्षि) व उत्तर पृष्ठ करके वास्तुपुरुष शयन करते हैं। इस प्रकार वास्तुपुरुष का शयन सर्वत्र प्रतिपादित है। यह व्याख्या सारसागर की है ॥९०॥

अत्र पुनश्चिन्तामणौ—

ईशानतः सर्पति कालसर्पो विहाय सृष्टिं गणयेद्विदिक्षु।
शेषोऽस्य वास्तोर्मुखमध्यपुच्छं[१] पृष्ठं परित्यज्य खनेच्चतुर्थम् ॥९१॥

कालसर्प नामक राहु (शेष) ईशानकोण से वामावर्त कोणों में घूमते रहते हैं। इनके मुख, मध्य, व पुच्छ की तीन दिशा छोड़कर चौथे कोण में खनन करना श्रेयस्कर (साधुसम्मत) है ॥९१॥

१. पृष्ठविदिक् शुभो भवेदित्यनेन सर्वैश्चतुर्थी दिक् स्वीकृतेति स्पष्टोक्तिः।'खनेच्चतुर्थम्' इत्यनेन 'त्रयं परित्यज्य' इति पाठः साधुः प्रतिभाति।

अयं त्रिप्रकारो वास्तुरुक्तस्तन्नरवास्तुर्यस्यां दिशि स्यात्तद्दिङ्मुखं गृहं कार्यमित्येवमर्थः ।

तदाह वशिष्ठः—

त्रिषु त्रिषु च मासेषु नभस्यादिषु च क्रमात् ।
यद्दिङ्मुखो वास्तुनरस्तन्मुखं सदनं शुभम् ॥९२॥

पूर्वश्लोकेषु गतार्थोऽयमपि ।

अन्यदिक्षु मुखं गेहं दुःखशोकभयप्रदम् ।
चतुर्द्वित्र्यादिशालानामेष दोषो न विद्यते ॥९३॥

यह तीन प्रकार से नरवास्तु कहा गया है। वास्तु-पुरुष का शिर जिस दिशा में हो, उस दिशा के मुखवाला गृह का आरम्भ करना चाहिए।

वास्तुनर कल्पित शेष के मुख से विपरीत दिशा में किये गये मुख वाले गृह का आरम्भ शोक, दुःख व भय देता है; किन्तु द्विशाल, त्रिशाल, चतुःशाल गृह में यह दोष नहीं होता है। अर्थात् वास्तुनर के शिर की दिशा में गृह के द्वार का नियम द्विशाल, त्रिशाल एवं चतुःशाल गृह में नहीं होता है ॥९२-९३॥

अथ नागवास्तु(शेषनाग)मुद्दिश्य खननस्तम्भस्थापनादिविषयविवेकः। तत्र भाद्रपदादिग्रहणं सिंहार्कसंक्रमणविषयम्।

यथोक्तं चिन्तामणौ—

वृषार्कादित्रिकं वाप्यां सिंहादि गणयेद् गृहे ।
देवालये च मीनाद्याच्छेषो भ्रमति वामतः ॥९४॥

बावली के निर्माण में वृष राशि के सूर्य से तीन-तीन राशि, गृह में सिंह से तीन-तीन राशि, देवालय में मीन से तीन-तीन राशियों में ईशानादि कोणों में वास्तु पुरुष शेषनाग भ्रमण करते हैं।

अत्रैव महादेवः— कन्यात्रये प्राच्यां धनुषस्त्रये दक्षिण इत्यादि क्रममपि वर्णितमित्यत्र भेदबाहुल्याच्छिष्टानुसारो देशव्यवहार एव पक्षो ग्राह्यो वा यावच्छक्यमुभयमपि भाद्रपदादि-सिंहादिद्वयस्यैकरूपताग्रहणं साधुरेवेति दिक्।

चान्द्रमास या सौर, इनमें कौन पक्ष लेना चाहिए, इस विषय में शिष्टाचारानुगत लोकव्यवहार की प्रधानता स्वीकृत है। तथापि चान्द्र, सौर दोनों की एकवाक्यता (दोनों प्रकार से शुभ पक्ष) ही निर्विवाद सिद्धान्त है ॥९४॥

ज्योतिःप्रकाशे—

वास्तुचक्रं प्रवक्ष्यामि यच्च व्यासेन भाषितम् ।
यदृक्षे वर्तते भानुस्तदादौ त्रीणि मस्तके ॥९५॥
चतुष्कं चाग्रपादे स्यात्पुनश्चत्वारि पश्चिमे ।
पृष्ठे च त्रीणि ऋक्षाणि कुक्षौ चत्वारि दक्षिणे ॥९६॥
पुच्छे च त्रीणि ऋक्षाणि कुक्षौ चत्वारि वामके ।
मुखे भत्रयमेवं स्यादष्टविंशतितारकाः ॥९७॥
शिरस्ताराऽग्निदाहो स्यादुद्वासोऽप्यग्रपादयोः ।
स्थैर्यं स्यात्पश्चिमे पादे पृष्ठे चैव धनागमः ॥९८॥
कुक्षौ स्याद्दक्षिणे लाभः पुच्छे स्वामिविनाशनम् ।
वामकुक्षौ तु दारिद्र्यं मुखे पीडा निरन्तरम् ॥९९॥

वृषवास्तु चक्र में सूर्य के नक्षत्र से अभिजित्सहित यथोक्त क्रम से नक्षत्र संख्या का न्यास करके चक्रानुसार फल का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है ॥९५-९९॥

वृषवास्तुचक्रम्

स्थान	शिर	अग्रपाद	पृष्ठपाद	पृष्ठ	दक्षिण कुक्षि	पुच्छ	वामपाद	मुख
नक्षत्र	३	४	४	३	४	३	४	३
फल	अग्निदाह	उद्वास	स्थैर्य	धनागम	लाभ	स्वामि-विनाश	दारिद्र्य	पीड़ा

अन्यच्चापि—

त्रिवेदवेदाग्नियुगाग्निवेदत्रिकेषु भानोः शशिभं गृहेषु ।
दाहो विनाशः स्थिरता धनं श्रीः शून्यं च दारिद्र्यवधौ क्रमेण ॥१०० ॥

उपरोक्त चक्र से अर्थ स्पष्ट है ॥१०० ॥

॥ इति विशिष्टवास्तुः ॥

अथ ग्रहवास्तुविचारः—

सूर्यर्क्षतो मध्यपदक्रमेण पीठं ग्रहाणां गुणतः क्रमेण ।
पापस्थले स्तम्भनिवेशनन्तु विद्वान्नकुर्यादिह वास्तुकाले ॥१०१ ॥

ग्रहपीठ के अनुसार सूर्य नक्षत्र से प्रारम्भ कर चन्द्र नक्षत्र तक की ३-३ संख्या मध्यकोष्ठ से प्रारम्भ कर पूर्वादि दिशा क्रम से विभाजित करके नव कोष्ठों में बाँट देवें— यदि चन्द्र नक्षत्र (मुहूर्त का नक्षत्र) ग्रहपीठ के अनुसार पापग्रह के कोष्ठ में पड़ जाय, तो उसमें वास्तु का प्रारम्भ व स्तम्भों का रोपण शुभ नहीं है। इसमें गणना मध्यपूर्वादि क्रम से है ॥१०१ ॥

ग्रहपीठचक्रम्

बुध ३	शुक्र ३	चन्द्र ३
गुरु ३	सूर्य ३	मङ्गल ३
केतु ३	शनि ३	राहु ३

अथ प्रवेशे कलशवास्तुः ज्योतिःप्रकाशे—

भूर्वेदपञ्चकं त्रिखिः प्रवेशे कलशेऽर्कभात् ।
मृतिर्गतिर्धनं श्रीः स्याद्वैरं शुक् स्थिरता सुखम् ॥१०२ ॥

सूर्य के नक्षत्र से चन्द्र-नक्षत्र (प्रवेशकालिक नक्षत्र) तक की संख्या का फल गृहप्रवेश चक्र से स्पष्ट हो जायेगा। शुभ फलवाले नक्षत्र में प्रवेश शुभ है, जो इस चक्र से ज्ञान करें ॥१०२ ॥

सूर्य-नक्षत्र से प्रवेश चक्र

स्थान	मुख	पूर्व	दक्षिण	पश्चिम	उत्तर	मध्य	अधस्थ	कण्ठ
नक्षत्र-संख्या	१	४	४	४	४	४	३	३
फल	मृति	गति-चल (चञ्चलता)	धन	श्री	वैर	शोक	स्थिरता	सुख

पुन: विश्वकर्माप्रकाशे—

घटाकारं लिखेच्चक्रं रविधिष्ण्यक्रमेण च ।
मुखैकं दिक्षु चत्वारि त्रीणि गुह्यककण्ठयो: ॥१०३ ॥

यह १०२ श्लोक में गतार्थ है।

अत्र चत्वारीति वीक्षापदं द्रष्टव्यम्, दिक्षु-इत्यनेन गर्भोऽप्युपलक्ष्यते । चार-चार दिशाओं में और उपलक्षण से ४ मध्य में अध्याहार किया जाय ॥१०३ ॥

यथा फलं तत्रैव निर्दिष्टम्—

अग्निनाशो मुखे प्रोक्त: उद्वास: पूर्वतो भवेत् ।
दक्षिणे चार्थलाभाय पश्चिमे श्रीप्रदो भवेत् ॥१०४ ॥
उत्तरे कलहश्चैव गर्भे गर्भविनाशनम् ।
स्थिरता तु गुदे कण्ठे कलशे फलमादिशेत् ॥१०५ ॥

१०२ श्लोक में ही अन्तर्भूत है ॥१०४-१०५ ॥

केषाञ्चिन्मते प्रवेशचक्रम्—

त्रिवेदाब्धित्रिवेदाब्धित्रिद्विभेष्वर्कत: शशी ।
श्रीरुद्वास: स्थितिर्व्याधिर्नैस्व्यं श्री: स्त्रीमृति: सुखम् ॥१०६ ॥

यह प्रकार आर्षविरुद्ध है। अर्थ चक्र से स्पष्ट है ॥१०६ ॥

प्रवेशचक्रम्

सूर्य नक्षत्र से संख्या	३	४	४	३	४	४	३	२
फल	श्री	उद्वास	स्थिति	व्याधि	नैस्व	श्री	स्त्रीमृति	सुख

अत्र तु प्रवेशे कलशवास्तुः, आरम्भे वृषवास्तुः, स्तम्भनिवेशने पीठवास्तुः, इत्येष विषयविभागः।

गृहप्रवेश में कलशवास्तु, गृहारम्भ में वृषवास्तु, स्तम्भनिवेश में पीठवास्तु, ये तीन विषय-विभाग हैं।

अथ शिलान्यासो वाराहसंहितायाम्—

दक्षिणपूर्वे कोणे कृत्वा पूजां शिलां न्यसेत्प्रथमाम् ।
शेषाः प्रदक्षिणेन स्तम्भाश्चैवं समुत्थाप्याः ॥१०७॥
छत्रस्रगम्बरयुतः कृतधूपविलेपनः समुत्थाप्यः ।
स्तम्भस्तथैव कार्यो द्वारोच्छ्रायः प्रयत्नेन ॥१०८॥

धूप, दीप, गन्ध, पुष्पाक्षत, दूर्वा, भक्ष्यभोज्यादि पदार्थों से विधिविहित पूजा करके प्रथम शिला अग्निकोण में निवेश करें और अन्य शिलायें प्रदक्षिण क्रम से स्थापित करें। यथा— अग्नि, नैऋत्य, वायव्य, ईशान यह शिलान्यास का क्रम है। एवमेव स्तम्भ भी स्थापित किया जाय। यहाँ पर प्रकरण के अनुसार स्तम्भारोपण का विषय है।

उत्थापन—उठाना (वृद्धिकरण) लोकभाषा में प्रयुक्त है। यहाँ इस अर्थ का प्रयोजन नहीं है। और पूजा के माध्यम से ही द्वार, द्वारशाखा (दरवाजा लगाना) व स्तम्भरोपण भी करना चाहिए ॥१०८॥

अत्रैव गर्गो यथा —

शिलाविन्यासकाले तु सम्भारांश्चोपकल्पयेत् ।
समुद्रजानि रत्नानि सुवर्णं रजतं तथा ॥
सर्वबीजानि गन्धांश्च शरान् दर्भांस्तथैव च ।
शुक्लान् सुमनसः सर्पिः केतकी मधुरोचनाम् ॥
आमिषं च तथा मद्यं फलानि विविधानि च ।
क्षीरोदनं पूर्णकुम्भान् कोणे-कोणे प्रदापयेत् ॥

नानाविधानि भक्ष्याणि पानानि विविधानि च।
हुत्वाऽग्निं विधिवत् काले मुहूर्ते चोपपादिते ॥
गृहकोणेषु सर्वेषु पूजां कृत्वा विधानतः।
ततः पुण्याहघोषेण शिलान्यासं प्रकल्पयेत् ॥
ऐशानमादितः कृत्वा प्राग्दाक्षिण्येन विन्यसेत्।
अनेनैव विधानेन स्तम्भद्वारावरोहणम् ॥
वास्तुविधाविधानज्ञः कारयेत् सुसमाहितः।
शिलाविन्यासमन्त्रोऽयं निर्दिष्टो मुनिभिः पुरा ॥

मन्त्रभागः—

नन्दे नन्दय वासिष्ठे वसुभिश्च हितप्रजे।
सुचिरे नन्ददे नन्दे वासिष्ठे रम्यतां गृहे ॥
भद्रे काश्यपदायादे पूजनं भद्रमावह।
सुभगे सुव्रते देवि गृहे काश्यपि रम्यताम् ॥
जये भार्गवदायादे प्रजानां भद्रमावह।
भवभूतिकरी देवि गृहे भार्गवि रम्यताम् ॥
सर्वबीजसमायुक्ते सर्वगन्धौषधैर्वृते।
प्रजापतिसुते देवि सुखदाऽस्तु महीसुते ॥
त्र्यम्बकं यजामहेति तथा वारुणमन्त्रकैः।
स्थापयेत् प्रार्थयेत् तद्वद्रिक्तां रिक्तार्तिहारिणीम् ॥
रिक्ते त्वं रिक्तदोषघ्ने सिद्धिभुक्तिप्रदे शुभे।
सर्वदा सर्वदोषघ्नि तिष्ठास्मिन् तत्र नन्दिनि ॥
पूर्णेऽङ्गिरसदायादे पूर्णकामाः प्रजाः कुरु।
पूजिते परमाचार्यैर्गन्धमाल्यैरलङ्कृतैः ॥

अव्यङ्ग्ये चाक्षते पूर्णे मुनेरङ्गिरसः सुते ।
इष्टके त्वं प्रयच्छेष्टं प्रतिष्ठा गृहिणः कुरु ॥
ग्रामस्वामिपुरस्वामिगृहस्वामिपरिग्रहे ।
मनुष्यपशुहस्त्यश्वधनवृद्धिकरी भव ॥ इति ॥

पाँच ईंटों के नाम—

नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता, पूर्णा, इनको पूजा के द्वारा स्थापित करना चाहिए। अर्थ स्पष्ट है। लोकरीति से पाँच ईंट लिया जाता है, जिसमें रिक्ता भी है।

अथ स्तम्भादीनामुपरि प्राणिषूपविष्टेषु स्तम्भे च कम्पिते पतिते दुःस्थिते सति फलमाह—

विहगादिभिरवलीनैराकम्पितपतितदुःस्थितैश्च तथा ।
शक्रध्वजसदृशफलं तदेव तस्मिन् विनिर्दिष्टम् ॥१०९॥

पक्षीप्रभृति मधुमच्छिकादि प्राणी स्तम्भ या द्वारशाखा पर बैठ जाय, दूषित (विट) कर दे, तो इन्द्रध्वज के दूषित होने जैसा फल यहाँ पर भी परिपाक होगा। इन्द्रध्वज राजभवन पर लगे ध्वज को कहते हैं, इस ध्वज या स्तम्भ पर गृध्र, कबूतर, काकादि निन्दित पक्षियाँ बैठ जाँय अथवा विट कर दें, तो ध्वज से राजा के लिए, स्तम्भ से गृहस्वामी के लिए अनिष्टसूचक है। विवरण निम्न है— चाष (नीलकण्ठ) के बैठने से युवराज, बाज से नृपमन्त्री के लिए भय उत्पन्न होता है। ध्वज या स्तम्भ के पतन व भङ्ग होने पर राजा की मृत्यु का भय, मधुमक्खी लगने पर चोरी का भय, उल्कापात से पुरोहित, वज्रप्रहार से राजस्त्री (राज्ञी), ध्वज गिरने से रानी, विट से दूषित होने पर अवृष्टि (वृष्टि की हानि) , बीच में भङ्ग होने पर मन्त्री, अग्रभङ्ग से राजा, मूल से भङ्ग होने पर चोरी का भय व नगरवासिजनों की हानि होती है। ध्वज की रस्सी के टूटने या काटने से बालपीड़ा होती है ॥१०९॥

प्रमाणान्तरम्—

क्रव्यादकौशिककपोतककाककङ्कैः केतुस्थितैर्महदुशन्ति भयं नृपस्य ।
चाषेण चापि युवराजभयं वदन्ति श्येनो विलोचनभयं निपतन् करोति ॥

छत्रभङ्गपतने नृपमृत्युस्तस्करान् मधु करोति निलीनम् ।
हन्ति चाप्यथ पुरोहितमुल्का पार्थिवस्य महिषीमशनिश्च ॥
राज्ञीविनाशं पतिता पताका करोत्यवृष्टिं पिटकस्य पातः ।
मध्याग्रमूलेषु तु केतुभङ्गे निहन्ति मन्त्रिक्षितिपालपौरान् ॥
धूमावृते शिखिभयं तमसा च मोहो
व्यालैश्च भग्नपतितैर्न भवन्त्यमात्याः ।
म्लायन्त्युदक्प्रभृति च क्रमशो द्विजाद्यान्
भङ्गे तु बन्धकिवधः कथितः कुमार्याः ॥
रज्जूत्सङ्गच्छेदने बालपीडा राज्ञो मातुः पीडनं मातृकायाः
यद्यत् कुर्युश्चारणा बालका वा तत्तत् तादृग्भावि पापं शुभं वा ॥ इति ॥

विशेषः—

केतु (ध्वज) के उद्देश्य से जो फल है, वही फल स्तम्भ या गृहध्वज से गृही के लिए कहना चाहिए।

वास्तुनो विशेषः—

प्रागुत्तरोन्नते धनसुतक्षयः सुतवधश्च दुर्गन्धे ।
वक्रे बन्धुविनाशो न सन्ति गर्भाश्च दिङ्मूढे ॥११०॥

जीर्णगृहभूमिपरिवर्धितदिक्फलम्—

इच्छेद्यदि गृहवृद्धिं ततः समन्ताद्विवर्धयेत् तुल्यम् ।
एकोद्देशे दोषः प्रागथवोत्तरे कुर्यात् ॥१११॥

सीमाबद्ध वास्तु-भूमि या निर्मित गृह में पूर्व या उत्तर ऊँचाई से धन व पुत्र का विनाश होता है। दुर्गन्ध से पुत्रवध (पुत्र की मृत्यु हो), वक्र (टेढ़ा) होने पर बन्धुविनाश, दिङ्मूढ होने पर गर्भ नष्ट होता है, या गर्भ धारण ही नहीं होता है। पूर्वनिर्मित गृह के भूमि की वृद्धि करके घर बनाना हो, तो चारों दिशा में बराबर बढ़ाकर बनावें। पूर्व या उत्तर में भी वृद्धि कर सकते हैं ॥११०-१११॥

नन्वत्र यदुक्तमेकोद्देशे दोषः, प्रागथवाप्युत्तरे कुर्यात्, केन हेतुना क्रियत इति तत्र स्वल्पदोषकारणमित्याह—

प्राग्भवति मित्रवैरं मृत्युभयं दक्षिणेन यदि वृद्धिः ।
अर्थविनाशः पश्चादुदग्विवृद्धिर्मनस्तापः ॥११२॥

१११ श्लोक में एक दिशा की वृद्धि में दोष कहा गया है; किन्तु पूर्व, उत्तर की जो वृद्धि कही गयी है, उसका विवरण निम्न है।

वास्तु (गृहनिर्माणार्थ) पूर्वनिर्मित गृहभूमि-सीमा बढ़ाकर निर्माण करने के लिए नियम—

पूर्व दिशा में बढ़ाकर निर्माण करने से मित्रों के साथ वैर, दक्षिण दिशा में मृत्युभय, पश्चिम में अर्थविनाश, उत्तर में मनस्ताप होता है। अतः "एकोद्देशे दोषः" का अर्थ यह स्पष्ट है कि किसी भी एक दिशा की वृद्धि निषिद्ध है; परन्तु अपेक्षाकृत उत्तर, पूर्व की वृद्धि में स्वल्प (थोड़ा) दोष है, जो यथाकथञ्चित् आवश्यकतावश ग्राह्य हो सकता है॥११२॥

अथ गृहनिर्माणार्थं स्तम्भादि-काष्ठसाधनाय वर्ज्यवृक्षानाह **वराहः** —

खगनिलयभग्नसंशुष्कदग्धदेवालयश्मशानस्थान् ।
क्षीरतरुधवविभीतकनिम्बारणिवर्जितान् छिन्द्यात् ॥११३॥

गृह में लगाने योग्य वृक्ष (गृहोपयोगी काष्ठ)— जिस पर पक्षियों के घोसले हों, जो आकस्मिक (अपने से) टूट या सूख गया हो, अग्नि से जला हुआ हो, देवता के स्थान (देवनिवास), श्मशान का वृक्ष तथा दूधवाला (पीपल, हर्रा-बहेरा, सेंहुण, धव, विभीतक) , निम्ब (नीम) , अरणि, इन वृक्षों को छोड़कर अन्य वृक्षों के काष्ठ का गृहनिर्माण में उपयोग करना चाहिए॥११३॥

गृहनिमाणार्थ वृक्षछेदनविधिः, एवं छेदानन्तरं पतितस्य शुभाशुभज्ञानमाह—

रात्रौ कृतबलिपूजं[१] प्रदक्षिणं छेदयेद् दिवा वृक्षम् ।
धन्यमुदक् प्राक् पतनं न ग्राह्योऽतोऽन्यथा पतितः ॥११४॥

---

१. बलि देने का मन्त्र—

यानीह भूतानि वसन्ति तानि बलिं गृहीत्वा विधिवत्प्रयुक्तम् ।
अन्यत्र वासं परिकल्पयन्तु क्षम्यन्तु तान्यत्र नमोऽस्तु तेभ्यः ॥

गृह के लिए जिस ग्राह्य वृक्ष को लेना है, उसे पूर्व रात्रि में पूजा व बलि देकर दूसरे दिन ईशान कोण से काटना प्रारम्भ कर पूर्वादि दक्षिणावर्त उत्तरान्त छेदन करें (कटवायें)। यथा— प्रथम वृक्ष को ईशान भाग से काटें, तदनन्तर पूर्व, अग्नि, दक्षिण, नैऋत्य, पश्चिम, वायव्य, क्रमशः कटान उत्तर में समाप्त करें। यदि कटा हुआ वृक्ष उत्तर या पूर्व की ओर गिरता है, तो शुभ व अन्य-दिक्पतित वृक्ष-काष्ठ अग्राह्य है ॥११४॥

अथ शुभाशुभं वृक्षशल्यज्ञानमाह—

छेदो यद्यविकारी ततः शुभं दारु तद्गृहौपयिकम् ।
पीते तु मण्डले निर्दिशेत् तरोर्मध्यगां गोधाम् ॥११५॥
मञ्जिष्ठाभे भेको नीले सर्पस्तथाऽरुणे सरठः ।
मुद्गाभेऽश्मा कपिले तु मूषकोऽम्भश्च खड्गाभे ॥११६॥

वृक्ष काटने में यदि किसी प्रकार की विकृति न हो (विघ्नरहित हो), तो काटा हुआ वृक्ष का काष्ठ गृहोपयोगी होगा।

यदि कटे हुए वृक्ष के बीच का भाग (मण्डलाकृति) स्वभावविरुद्ध हो (वृक्ष के रूप के विपरीत पीला दिखाई दे), तो वृक्ष के बीच में गोधा (छिपकली) नामक प्राणी है, यदि वृक्ष के बीच की गोलाई मजीठ के रंग की दिखाई पड़े, तो वृक्ष के बीच में मेढ़क, नील वर्ण होने पर सर्प, लाल वर्ण होने पर गिरगिट, मूँग (अन्न-विशेष) के वर्ण से पाषाण, श्वेत-पीत मिश्रित वर्ण से मूषक, खड्ग (तलवार) के रंग का श्वेत-कृष्ण वर्ण होने पर जल है। अस्तु इस प्रकार के वृक्ष का काष्ठ ग्राह्य नहीं है ॥११५-११६॥

॥ इति चतुर्थो भागः ॥

अथ पञ्चमो भागः

प्राचीनगृहकाष्ठस्य नूतनगृहे नियोजनविषयमाह –

अन्यवेश्मस्थितं दारु नैवान्यस्मिन्नियोजयेत् ।
न तत्र वसते कर्त्ता वसन्नपि न जीवति ॥११७॥

एक गृह में उपयोग की गई लकड़ी दूसरे गृह में लगाना निषेध है। यदि ऐसा किया जाय तो गृहस्वामी उस घर में नहीं रह सकता, यदि निवास करे, तो उसकी मृत्यु होती है ॥११७॥

विशेष— पुराने गृह का काष्ठ नूतन गृह में नहीं लगाना चाहिए।

इष्टिका-लोष्ठ-पाषाण-मृत्तिका-चूर्णमायसम् ।
तृणं पत्रं बुधैः प्रोक्तं दारु नव्यं गृहाय वै ॥११८॥

ईंट, गिट्टी (टुकड़ा), पाषाण-मिट्टी-लोहा-तृण-पत्र व लकड़ी, ये सभी नूतन गृह के लिए नूतन ही होने चाहिए ॥११८॥

नूतने नूतनं काष्ठं जीर्णो जीर्णे प्रशस्यते ।
जीर्णे च नूतनं श्रेष्ठं नो जीर्णं नूतने शुभम् ॥११९॥

नूतन गृह में नूतन काष्ठ और जीर्ण गृह में नूतन व जीर्ण (पुराना) काष्ठ शुभदायी होता है; किन्तु जीर्ण काष्ठ नूतन गृह में कभी भी शुभ नहीं है ॥११९॥

अथ आय-व्यय-विचारो विश्वकर्माप्रकाशे –

विस्तारेण हतं दैर्घ्यं विभजेदष्टभिस्ततः ।
यच्छेषं स भवेदायो ध्वजाद्यास्तेषु अष्टधा ॥१२०॥

ध्वजो धूम्रो हरिश्वानौ खरेभौ वायसोऽष्टमः ।
पूर्वादिदिक्षु चाष्टानां ध्वजादीनामवस्थितिः ॥१२१॥

दीर्घ-विस्तार के गुणनफल में आठ का भाग देने पर एकादि शेष में ध्वजादि ध्वज, धूम्र, सिंह, श्वान, वृष, खर, गज व काक, ये आठ आय होते हैं। ये पूर्वादि

आठों दिशाओं में क्रम से निवास करते हैं, अर्थात् पूर्वादि दिशाएँ इनकी अपनी दिशायें हैं ॥१२०-१२१ ॥

स्वस्वस्थाने ध्वजः श्रेष्ठो गजः सिंहस्तथा वृषः ।
ध्वजः सर्वगतो देयो वृषं नान्यत्र दापयेत् ॥१२२ ॥
वृषसिंहगजाश्चैव खेटे कर्कटकोटयोः ।
द्विपः पुनः प्रयोक्तव्यो वापीकूपसरेषु च ॥१२३ ॥
मृगेन्द्रमासने दद्याच्छयनेषु पुनर्गजः ।
वृषं भोजनपात्रेषु च्छत्रादिषु पुनर्ध्वजः ॥१२४ ॥

ध्वजादि आठ आय अपने-अपने दिशा (पूर्वादि क्रम) के गृहद्वार में शुभ होते हैं। अर्थात् जिस आय की जो दिशा है, उस दिशा में मुख्य द्वार वाले गृह में वही आय होनी चाहिए। आठ आयों में ध्वज, गज, सिंह व वृष आय सम्बन्धी गृह शुभ होते हैं। ध्वज सम्बन्धी मकान सभी दिशाओं में शुभ होता है, वृष अपनी दिशा पश्चिम में ही शुभ है। सम्पुट, ग्रहपीठ, शिकार-गृह, कीट (प्राणी विशेष) व कोट (राजगृह) गृह में वृष-गज व सिंह आय शुभ हैं, तथा गज आय बावली, कूआँ, तालाब में भी श्रेष्ठ है। सिंह आय आसन (सिंहासन), शयन (चारपाई, चौकी) में, गज भोजन-पात्र में, वृष छत्रादि आवरण के वस्तुओं में शुभ होता है ॥१२२-१२४ ॥

अग्निवेश्मसु सर्वेषु गृहे वह्न्युपजीविनाम् ।
धूम्रं नियोजयेत्केचिच्छ्वानं म्लेच्छादिजातिषु ॥१२५ ॥
खरो वेश्यागृहे शस्तो ध्वांक्षश्चापि कुटीषु च ।
वृषसिंहौ गजश्चापि प्रासादपुरवेश्मसु ॥१२६ ॥

सभी प्रकार के अग्नि और अग्नि से जीविका चलाने वालों के गृहों में धूम्र आय, म्लेच्छ-जाति के गृहों में श्वान आय प्रशस्त है। वेश्यालय में खर, कुटी (वधिक) गृह में काक आय, प्रसाद-पुर-भवन के निर्माण में वृष-सिंह व गज आय शुभ होते हैं ॥१२५-१२६ ॥

अत्रैव वशिष्ठः —

गजाये वा ध्वजाये वा गजानां सदनं शुभम् ।
अश्वालयं ध्वजाये च खराये वृषभेऽपि वा ॥१२७॥
उष्ट्राणां मन्दिरं कार्यं गजाये वा वृषे ध्वजे ।
पशुसद्म वृषाये च ध्वजाये वा शुभप्रदम् ॥१२८॥
शय्यासु वृषभः शस्तः पीठे सिंहः शुभप्रदः ।
अन्यत्र च्छत्रवस्त्राणां वृषाये वा ध्वजेऽपि वा ॥१२९॥
पादुकोपानहौ कार्यौ सिंहाख्येऽप्यथवा ध्वजे ।
उक्तानामप्यनुक्तानां मन्दिराणां ध्वजः शुभः ॥१३०॥

हाथी के निवास में गज व ध्वज, घोड़े के निवास में ध्वज, वृष, गज, पशुनिवास में वृष, ध्वज, चारपाई, चौकी में वृष, पीठ (सिंहासन) में सिंह, अन्यत्र वस्त्रादिकों में वृष, ध्वज, खड़ाऊँ, जूता में सिंह, ध्वज तथा उक्त या अनुक्त सर्वत्र मन्दिरादि गृहों में ध्वज आय शुभ हैं ॥१२७-१३०॥

अथात्र च्यवनः—

महानसेऽग्निशालायां गृहे चाग्न्युपजीविनाम् ।
धूम्रं दद्यात् तथा श्वानं यवनान्त्यजयोर्गृहे ॥१३१॥
खरो वेश्यागृहे देयो ध्वजः क्षत्रियविट्गृहे ।
वृषं सिंहं गजं दद्यात् प्रासादपुरमन्दिरे ॥१३२॥

"सर्वे स्वाभिमुखा शुभाः"

महानस (भोजनालय), अग्निशाला व अग्नि से उपजीविका चलाने वालों के गृह में धूम्र आय देना चाहिए। यवन और अन्त्यजों के लिए श्वान, क्षत्रिय और वैश्यों के गृह में ध्वज और प्रासाद, पुर, मन्दिरों में वृष, सिंह, गज आय शुभ होते हैं और सभी आय अपने-अपने दिशा में शुभ होते हैं ॥१३१-१३२॥

ध्वजे परास्यं विप्राणां राज्ञां सिंहेऽप्युदङ्मुखम् ।
गजे शूद्रस्य याम्यास्यं वृषे पूर्वमुखं विशः ॥१३३॥
वस्त्रेषु धर्मशालायां कुम्भे स्तम्भे ध्वजे ध्वजः ।
गोगजौ भूगृहे देयौ साधारणतृणौकसि ॥१३४॥

ध्वज में ब्राह्मण पश्चिम-मुख द्वार, सिंह में क्षत्रिय उत्तर-मुख, वृष में वैश्य पूर्व-मुख, गज में शूद्र दक्षिण-मुख द्वार और वस्त्र, धर्मशाला, कलश, स्तम्भ, ध्वज में ध्वज आय शुभ है। वृष व गज भूमि (मिट्टी की दीवार— भूक्षेत्रविभाग) व साधारण तृण गृह में शुभ होता है ॥१३३-१३४॥

यन्त्रे शस्त्रे रथे सिंहो भाण्डागारे शुभो गजः ।
धान्याम्बुस्थानगोश्वेभशालायां वृषभः शुभः ॥१३५॥

यन्त्रगृह, शस्त्रगृह, रथ में सिंह आय शुभ है। भाण्ड (पात्र-बर्तन), गज, धान्य, जल, गो, अश्व व गज निवास में वृष आय शुभ है ॥१३५॥

वाद्यगेहोद्वाहवेद्यां गजसिंहवृषाः शुभाः ।

वाद्यगृह व विवाह-वेदी में गज, सिंह व वृष आय शुभ हैं।

अथ ध्वजादिकानां फलम्—
कीर्तिः शोको जयो वैरं धनं निर्धनता सुखम् ।
रोगश्चेति गृहारम्भे ध्वजादीनां फलं क्रमात् ॥१३६॥

ध्वजादि आयों में गृह-निर्माण से क्रमशः यश, शोक, जय, वैर, धन, निर्धनता, सुख व रोग होता है ॥१३६॥

॥ इति पञ्चमो भागः ॥

अथ षष्ठो भागः

यत्र दैर्घ्यं गृहादीनां द्वाविंशद्धस्ततोऽधिकम् ।
न तत्र चिन्तयेद्धीमान् गुणानायव्ययादिकान् ॥१३७॥

३२ हाथ से अधिक दीर्घ होने पर आय-व्यय आदि गुणों का विचार नहीं करना चाहिए। ऐसा गृह शुभ माना गया है ॥१३७॥

आयव्ययौ भूमिशुद्धिं तृणगेहे न चिन्तयेत् ।
शिलान्यासादि न कुर्यात्तथागारे पुरातने ॥१३८॥

आय-व्यय, भूमिशुद्धि, शिलान्यासादि कार्य—तृण के गृह व पुराने गृह में नहीं होते हैं ॥१३८॥

गृहे नक्षत्रादिज्ञानं वास्तुशास्त्रे—

आयामे विस्तृतिहते योंऽकः सञ्जायते किल ।
स मूलराशिर्विज्ञेयो गृहस्य गणकैः सदा ॥१३९॥

अष्टभिर्गुणिते तस्मिन् मूलराशौ विशारदैः ।
सप्तविंशतिभक्तैर्यच्छेषं तद्गृहभं भवेत् ॥१४०॥

दीर्घ-विस्तार के गुणनफल में आठ से गुणा करें और सत्ताइस (२७) से भाग दें, शेष संख्यातुल्य अश्विन्यादि नक्षत्र होते हैं।

उदाहरण— २५ = विस्तार, २७ = दीर्घ है।

८ × २५ × २७ ÷ २७ = ५४०० ÷ २७ = शे. २७

लब्धि का प्रयोजन नहीं है, शेष शून्य होने पर भागहर ही शेष होता है। अतः शेष २७ से रेवती-नक्षत्र हुआ ॥ १३९- १४० ॥

तत्र चाङ्केऽष्टभिर्भक्ते योंऽकः स्यात्स गृहे व्ययः ।
पैशाचो राक्षसो यक्षः स त्रिधा स्मर्यते व्ययः ॥१४१॥

श्लोक १४० में जो गृहांक (वि. x दी.) आया है, उसमें ८ का भाग देने पर शेष व्यय होता है, व्यय में पिशाच, राक्षस व यक्ष तीन भेद होते हैं ॥१४१॥

पैशाचस्तु समाय: स्याद्राक्षसोऽप्यधिके व्यये ।
आयान्न्यूनतरो यक्षो व्ययस्यैषा विचारणा ॥१४२॥

आय (द्रव्य) के समान संख्या व्यय की हो, तो उस व्यय को पिशाच कहेंगे। व्यय अधिक होने पर राक्षस, यदि आय से व्यय की संख्या न्यून है, तो उसे यक्ष (कुबेर) की संज्ञा दी गई है ॥१४२॥

मूलराशौ व्यये क्षिप्ते गृहनामाक्षरैर्युते ।
ततो हरेत्त्रिभिर्भागं यच्छेषं सोंऽशको भवेत् ॥
इन्द्रो यमश्च राजा स्यादंशकाश्च त्रयस्त्विमे ॥१४३॥

दीर्घ-विस्तार के गुणनफल में व्यय की संख्या व ध्रुवादि गृह के नाम का अक्षर जोड़ने पर जो संख्या हो, उसमें तीन का भाग देने पर १ शेष में इन्द्र, २ शेष में यम, ३ शेष में राजा का अंश होता है ॥१४३॥

गृहभात्स्वामिभं गण्यं भक्तश्च नवभिर्यदा ।
भागशेषसमा तारा सप्तपञ्चत्रिकाधमा: ॥१४४॥

गृहस्वामी के नक्षत्र से गृह के नक्षत्र की संख्या को (९) नव से भाग देने पर जो शेष हो, उस संख्यातुल्य क्रम से जन्म, सम्पत्, विपत्, क्षेम, प्रत्यरि, साधक, वध, मैत्र, अतिमैत्र ये नव (९) ताराएँ होती हैं। इनमें गृह-नक्षत्र की तारा ३।५।७ अनिष्टकारिणी होती है ॥१४४॥

यथाह कश्यप:—

दत्ते दु:खं तृतीयर्क्षं पंचमर्क्षं यश:क्षयम् ।
आयु:क्षयं सप्तमर्क्षं कर्तृभाद् गृहभावधि ॥इति॥
गृहस्य तत्कृतस्यैक्यं धिष्ण्यं चेन्निधनप्रदम् ॥इति वसिष्ठ:॥
अन्योऽपि—

गृहगृहेशयोर्भैक्यं मृति: स्यान्नियमेन तु।

गृह व गृहस्वामी का नक्षत्र एक हो, तो मृत्यु होती है।

राक्षसामरमर्त्योक्तं गणयोन्यादिकं पुन: ।
ज्ञेयं ज्यौतिषशास्त्रे तदिदमित्यत्र नोदितम् ॥१४५॥

इस श्लोक का मात्र तात्पर्य है— विवाहवद् गणनाविचार करना चाहिए, जिसका ज्ञान अन्यत्र से किया जाय ॥१४५ ॥

अत्र गृहनक्षत्रस्य राशिज्ञानं वास्तुशास्त्रे—

अश्विन्यादित्रयं मेषे सिंहे प्रोक्तं मघात्रयम् ।
चापे मूलत्रयं ज्ञेयं शेषराशौ द्वयं द्वयम् ॥१४६ ॥

गृह में अश्विनी, भरणी, कृत्तिका मेषराशि, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी सिंहराशि, मूल, पूर्वाषाढ़, उत्तराषाढ़ धनुराशि, शेष राशियाँ दो-दो नक्षत्रों की होती हैं ॥१४६ ॥

गृह में नक्षत्रों का राशिज्ञान-चक्र

मेष	वृष	मिथुन	कर्क	सिंह	कन्या	तुला	वृश्चिक	धनु	मकर	कुम्भ	मीन
अ.	रो.	आर्द्रा	पुष्य	मघा	ह.	स्वा.	अनु.	मू.	श्र.	श.	उ. भा.
भ.	मृ.	पुन.	श्लेषा	पू. फा.	चि.	वि.	ज्ये.	पू. षा.	ध.	पू. भा.	रे.
कृ.	०	०	०	उ.फा.	०	०	०	उ. षा.	०	०	०

तिथिज्ञानम्

शक्राहतं[1] क्षेत्रफलं त्रिंशद्भक्तावशेषकम् ।
प्रतिपदादितिथिर्ज्ञेया दर्शरिक्तां विवर्जयेत् ॥१४७ ॥

क्षेत्रफल (गृहांक) व १४ के गुणनफल में ३० के भाग-शेष में प्रतिपदादि तिथि होती है। रिक्ता व अमा तिथि, वास्तु-कार्य में निषिद्ध हैं ।१४७ ॥

चतुर्भिर्गुणितं क्षेत्रफलं षोडशभिर्भजेत् ।
शेषं ध्रुवादिकं ज्ञेयं सद्मनाम यथाक्रमम् ॥१४८ ॥

इति विश्वकर्मणोक्तम्। अपरे तु—

व्यासव्यायामहस्तैक्यं द्विघ्नमेकार्धसंयुतम् ।
नृपभक्तं भवेच्छेषं गृहनाम ध्रुवादिकम् ॥१४९ ॥

१. नृपाहतम् इति पाठः।

चार से गुणित क्षेत्रफल में १६ से भाग शेष में, ध्रुवादि सोलह गृह के नाम होंगे। अन्य मतानुसार दीर्घ-विस्तार के योग को दो से गुणा करें, उसमें योगार्द्ध जोड़कर १६ से भाग-शेष में ध्रुवादि नाम होता है ॥१४८-१४९॥

दी. २७ x वि. २५ x ४ = ६७५ x ४ = २७००

गृहपिण्ड x ४ ÷ १६ = ६७५ x ४ ÷ १६

= ल. १६८, शेष = १२ ध्रुवादि गृह-नाम।

द्वितीय विधि—

२ x (२७ + २५) = ५२ x २ = १०४

$$\frac{\text{योग} \times २ + \text{योगार्ध}}{१६} = \frac{१०४ + २६}{१६} = \frac{१३०}{१६}$$

= १६ × ल + शेष/१६

शेष = २ ध्रुवादि गृह-नाम।.

वस्तुतस्तु अलिन्दवशादेव धनादिज्ञानं तदेषां प्रस्तारावसरे व्यक्तं निरूपयिष्यामः। (यह ग्रन्थकर्ता का स्वतन्त्र विचार है।)

व्यवहारोच्चये—

गृहभूमिसमाहितपिण्डपदं [१]वसुलोचन[२]रन्ध्रगजैर्गुणितम्।

रविभूधरभूधरभानिहतं द्रविणव्ययबन्धभसंकलनम् ॥१५०॥

गृहपिण्ड को चार स्थानों में लिखें, क्रमशः ८/३/९/८ से गुणा करें और १२/८/८/२७ से भाग देने पर शेष क्रम से द्रव्य, व्यय, बन्ध व नक्षत्र होगा ॥१५०॥

उदाहरण—

दीर्घ = २७। विस्तार = २५ । २७ x २५ = ६७५ = पिण्ड

१. लोचनपदेन शिवनेत्रं ग्राह्यम्।

२. सूर्यसिद्धान्तमतानुसारेण रन्ध्रपदेन नव-संख्या ग्राह्या।

(१) $\frac{८ \times ६७५}{१२}$

$= ल \times १२ + शेष \div १२$

शेष = १२ = द्रव्य।

(२) $\frac{३ \times ६७५}{८}$

$= ल \times ८ + शेष \div ८$

शे = १ = व्यय।

(३) $\frac{९ \times ६७५}{८}$

$= ल \times ८ + शेष \div ८$

शे = ३ = बन्ध।

(४) $\frac{६७५ \times ८}{२७}$

$= ल \times २७ + शेष \div २७$

शे = २७ = रेवती-नक्षत्र।

गृहनिर्माणे पिण्डेषु ग्राह्यनक्षत्राणि—

त्रिभिस्त्रिभिर्वेश्मनि कृत्तिकाद्यैरुच्छेदपुत्राप्तिधनानि शोकः।

शत्रोर्भयं राजभयं च मृत्युः सुखं प्रवासश्च नव प्रभेदाः ॥१५१॥

गृहपिण्ड के लिए कृत्तिका से तीन-तीन नक्षत्रों का फल निम्न चक्र से समझें।

कृत्तिका से नक्षत्र-संख्या	३	३	३	३	३	३	३	३	३
फल	उच्छेद	पुत्राप्ति	धन-प्राप्ति	शोक	शत्रुभय	राजभय	मृत्यु	सुख	प्रवास

शुभफलबोधक नक्षत्रों में पिण्ड-निर्माण करना चाहिए ॥१५१॥

न दोषाय भवेद्वेश्म स्वल्पदोषं गुणाधिकम् ।
आयव्ययाविहान्वेष्यौ विरूद्धर्क्षं विवर्जयेत् ॥१५२॥

अल्पदोष व गुणाधिक्य भवन दोषद नहीं होता है; किन्तु आय-व्यय का अन्वेषण (विचार) और दूषित फल (ऊपर के श्लोकानुसार) वाला नाक्षत्र-पिण्ड त्याज्य होना चाहिए ॥१५२॥

अथ क्षेत्रफलनिर्णयः —

तुल्यश्रुतौ समायाते समचतुर्भुजे च भुजकोटिघातं क्षेत्रफलं भवति; किन्तु अतुल्यकर्णसमचतुर्भुजे तु "अतुल्यकर्णाभिहतिर्द्विनिघ्नी" इत्यादिना फलं स्फुटं भवति।

तुल्य कर्ण वाले समायत, समचतुर्भुज में भुज कोटि घात एवं विषम कर्ण, तुल्य चतुर्भुज में द्विगुणित असमान कर्णघात क्षेत्रफल होता है।

यथा चोक्तं भास्करेण—

अतुल्यकर्णाभिहतिर्द्विनिघ्नी फलं स्फुटं तुल्यचतुर्भुजेषु।
समश्रुतौ तुल्यचतुर्भुजे च तथायते तदनुजकोटिघातः॥

यत्र हस्तात्मके क्षेत्रे सम्यक् फलं नायाति तत्र अङ्गुलादिकं विहाय क्षिप्त्वा वा साधुफलम् आनेयम्।

यथात्र वास्तुशास्त्रे—

यत्र दण्डैर्मितं क्षेत्रं तत्रायो हस्तसम्मितः ।
क्षेत्रालाभे तु तत्रैव ग्राह्यस्तत्स्यादिह्यांगुलैः ॥१५३॥

जहाँ पर हाथ से गणना करने पर अंश आय-व्ययादि समुचित नहीं प्राप्त होते हैं, वहाँ अङ्गुल जोड़ या घटाकर साधु फल का साधन करना चाहिए ॥१५३॥

अत्र ग्रन्थकर्तुर्व्याख्या—

यत्र हस्तादिगणनया क्षेत्रफले क्रियमाणे व्ययांशकादिशुद्धिर्नोपलभ्यते, तत्राप्यंगुलादिकं निक्षिप्य संशोध्य वा क्षेत्रफलं साध्यम् ।

अत्र नारायणः— यावद्भूरिगुणं हृदि स्फुरति तत्तावद्विचार्य करैश्चैनो तनुयादिहांगुलमुखं क्षिप्त्वा विहायाथवा ॥

गृहनिर्माणे कस्य हस्तो ग्राह्य इति—

गृहेषु कर्महस्तेन मानं स्वामिकरेण वा ।
देवतानां तु हर्म्येषु कर्महस्तेन केवलम् ॥१५४॥

गृह निर्माण में कर्मकार (नौकर) या गृहस्वामी का हाथ और देवमन्दिर निर्माण में केवल कर्मकार (पुजारी) का हाथ होना चाहिए ॥१५४॥

यदाह भीमपराक्रमः —

ईप्सितं परमानन्दं गुणं चेदङ्गुलादिकम् ।
निःक्षिप्य शोधयेद्वापि साध्यं साधुफलं नृणाम् ॥१५५॥

गणितेन प्रसाधयेदिष्टसिद्ध्यर्थमिति । अगुणम्, आयव्ययादिशून्यं क्षेत्रफलं चेत्, तत्र साधु क्षेत्रफलं साधनीयम् । असाधु-साधुदृश्यमानक्षेत्रफलयोरन्तरं चेत्, तर्हि इष्टदीर्घविस्तारवशेन कथितरीत्या साधु आयादिफलं साधनीयमित्यूहनीयम् ।

इष्ट आय और इष्ट नक्षत्र से साधित क्षेत्रफल द्वारा यदि साधु आयादि फल की सिद्धि नहीं होती है, तो अभीष्ट फलसिद्धि के लिए दूसरे इष्ट आय और नक्षत्र की कल्पना करनी चाहिए ॥१५५॥

गृहक्षेत्रफलसाधनं सारसमुच्चये यथा–

रूपाष्टभिर्विनिहतो भवनस्य बन्धो

नक्षत्रमिष्टमिह युग्मसरेन्दुनिघ्नम् ।

एकीकृतं रसनिशाकरयुग्मशेष-

मिष्टस्ततो भवति मध्यगृहस्य पिण्डः ॥१५६॥

इष्ट आय और ८१ का गुणनफल व इष्ट नक्षत्र और १५२ के गुणनफल के योग में २१६ से भाग देने पर शेष गृह का मध्यम पिण्ड होता है। उदाहरण—

इष्ट आय = ध्वज = १

इष्ट नक्षत्र = आर्द्रा = ६

१ x ८१ = ८१ (१)

६ x १५२ = ९१२ (२)

(१) + (२) = ९९३

$$\frac{९९३}{२१६} = ४ + \frac{शे}{२१६}$$

शेष = १२९ = मध्यमलघुपिण्ड हुआ ॥१५६॥

एतस्माल्लघुक्षेत्रफलादायाद्यानयनमाह—

गोऽकर्त्वष्टगुणाष्टनागजलधिव्यालैर्हतं भूफलम् ।

नागाद्र्यंकदिवाकराष्टभतिथियोगैः खसूर्यैर्भजेत् ॥१५७॥

गृहपिण्ड को नव स्थानों में लिखें और उसे क्रमशः ९।९।६।८।३।८।८।४।८ से गुणा करें, गुणनफल में क्रमशः ८।७।९।१२।८।२७।१५।२७।१२० से भाग दें, शेष में क्रमशः गृह का आय, वार, अंश, धन, ऋण, नक्षत्र, तिथि, योग व आयु का मान हो जाता है ॥१५७॥

यथोक्तं तत्रैव—

आयं वारमथांशकं धनमृणं तारां तिथिं चिन्तयेत् ।
योगं वायुरितीह शेषकपदे भागे हते तान्त्रिकैः ॥१५८॥

अथाहतुर्वशिष्ठनारदौ—

विस्तारायामगुणितं गृहस्य पदमुच्यते ।
तस्माद्धनाधनायर्क्षवासराख्या नवांशकाः ॥१५९॥
गृहस्यागतभं यत्तु तद्धि राश्यात्मकं भवेत् ।
तन्नवांशवशात्तत्र ज्ञातव्यं सर्वथा गृहे ॥१६०॥
गजरामांकवस्वंक-ऋतुभिर्गुणितात् पदात् ।
सूर्योऽष्टाष्टर्क्षशैलांकविभक्तादवशेषकाः ॥१६१॥

दीर्घ, विस्तार का गुणनफल पिण्ड होता है, उसे क्रमशः ८।३।९।८।९।६ से गुणा कर १२।८।८।२७।७।९ से भाग-शेष में धन, व्यय, आय, नक्षत्र, दिन, अंश व जो नक्षत्र आवे, उससे राशि, अंश का ज्ञान किया जाय ॥१५९-१६१॥

सम्पूर्णाः शुभदास्त्वेते ह्यसम्पूर्णास्त्वनिष्टदाः ।
धनाधिकं गृहं वृद्ध्यै निर्धनाय ऋणाधिकम् ॥१६२॥

धन की संख्या अधिक होने पर गृह में धनादि की वृद्धि होती है एवं ऋण के अधिक होने पर स्वामी ऋणग्रस्त होता है ॥१६२॥

विषमायः शुभश्चैव समायः शोकदुःखदः ।
गृहस्य तत्पतेस्त्वेकं धिष्ण्यं चेन्निधनप्रदम् ॥१६३॥

विषम आय शुभ व सम आय शोक, दुःखद होता है। गृह एवं गृहस्वामी का नक्षत्र एक होने पर मृत्यु का भय होता है ॥१६३॥

अथ ताराफलम्—

विपत्प्रदा विपत्तारा प्रत्यरिः प्रतिकूलता ।
निधनाख्या तु या तारा सर्वथा निधनप्रदा ॥१६४॥

गृह निर्माण (शिलान्यास) या गृहपिण्ड वाला नक्षत्र विपत् ताारा का हो, तो विपत्ति आती है, प्रत्यरि में प्रतिकूलता (विपरीतता), शत्रुभय एवं निधन तारा में मृत्युभय होता है।

विशेष—

श्लोक १४४ के प्रसङ्ग में १६४ भी आता है; किन्तु विंशेष तारा-फल का उद्धरण पुनरुक्ति दोष से बहिर्भूत मानना चाहिए ॥१६४॥

विवर्ज्य तारकास्त्वेता निर्माणाय शुभं भवेत् ।
कुर्वन्नज्ञानतो मोहाद् दुःखभाग् व्याधिभाग्भवेत् ॥१६५॥

उपर्युक्त विपत्, प्रत्यरि, निधन तारा के नक्षत्रों में गृहारम्भ या पिण्ड का निर्माण नहीं होना चाहिए। अज्ञानता या मोहवश उपर्युक्त दुष्ट तारा के नक्षत्रों में गृहारम्भ व पिण्डादि निर्माण करने पर दुःख व व्याधि का भय होता है ॥१६५॥

राशिकूटादिकं सर्वं दम्पत्योरिव चिन्तयेत् ।
नैस्व्यं द्विर्द्वादशे नूनं त्रिकोणे त्वनपत्यता ॥१६६॥
षष्ठाष्टके नैधनं स्याद् व्यत्यये मध्यमं स्मृतम् ।
परेषु शुभदं ज्ञेयं सर्वं तत्कर्तृराशितः ॥१६७॥

राशिकूटादि (नक्षत्र-मेलापक) का दम्पतियों की भाँति विचार करना चाहिए। द्विर्द्वादश भकूट में निर्धनता, नवपंचम में अपत्यहानि, षडष्टक में मृत्यु होती है, इससे विपरीत भकूट शुभ होता है। सभी बलाबल व गणना गृह-नक्षत्र व गृह-स्वामी के नक्षत्र से देखनी चाहिए; किन्तु नाड़ी विवाह के विपरीत शुभ होती है ॥१६६-१६७॥

यत्र गृह-गृहेशयोर्नाडीवेधस्तदा राशिकूटं प्रशस्तं स्यादिति महादेवेन व्याख्यातं रत्नमालाटीकायाम्।

गृह व गृहस्वामी के राशिकूट (गणना) में एक नाड़ी प्रशस्त मानी गई है, जैसा कि महादेव ने रत्नमाला की टीका में कहा है।

तथा चोक्तं चिन्तामणौ—

सेव्यसेवकयोश्चैव गृहतत्स्वामिनोरपि ।

परस्परं मित्रयोश्चेदेकनाडी प्रशस्यते ॥१६८॥

स्मृतावपि—

एकनक्षत्रजातानां परेषां प्रीतिरुत्तमा ।
परस्परं च दम्पत्योः कलत्रन्तु रिपुर्भवेत् ॥१६९॥

सेवक-स्वामी, गृह व गृहस्वामी, परस्पर दो मित्रों में एक नाड़ी शुभ मानी गई है व एक नक्षत्र में जन्म लेने वालों का परस्पर प्रेम होता है; परन्तु दम्पति में स्त्री जाति शत्रु हो जाती है ॥१६८-१६९॥

सूर्यारवारराश्यंशाः सदा वह्निभयप्रदाः ।
शेषग्रहाणां राश्यंशाः कर्तुरिष्टार्थसिद्धिदाः ॥१७०॥

पिण्ड साधनादि गृह के समस्त कार्यों में सूर्य, मंगल का दिन व अंशादि अग्निभय देता है और अन्य ग्रहों के दिनादि अभीष्ट फल देते हैं ॥१७०॥

अथोत्तमोत्तम-मध्यमाधमभेदेन पञ्चविधानि गृहाणि राज्यादीनां नियत-परिमाणान्युच्यन्ते ।

उत्तम-उत्तमोत्तम-मध्यम-अधम-अधमाधम ये पाँच राजा आदि (राज्याधि-कारियों) का गृह होता है ।

यथाऽत्र कश्यपः—

अष्टोत्तरं हस्तशतं विस्तारं नृपमन्दिरम् ।

कार्यं प्रधानमन्यानि तथाष्टाष्टोनितानि तु ॥१७१॥

विस्तारं पादसंयुक्तं दैर्घ्यं तेषां प्रकल्पयेत् ।

एवं पञ्च नृपः कुर्याद् गृहाणां च पृथक्-पृथक् ॥१७२॥

अत्रायमर्थः— अष्टोत्तरं हस्तशतं उत्तमोत्तमगृहे विस्तारः, तच्चतुर्थांशयुतं पञ्चत्रिंशाधिकं शतहस्तमितं दैर्घ्यं तस्मिन् विधेयम् । एवं क्रमेण अष्टाष्टोनविधा-नेन अपरेषां चतुर्णां गृहाणां विस्तारदैर्घ्यं कल्पनीयम् । इत्यर्थादेव सिद्ध्यति

सपादत्वविधानात्। यथा च— शतहस्तविस्तारं पञ्चविंशत्यधिकशतं दीर्घं द्वितीयम्, एवमेव इतराणि गृहाणि कल्पनीयानीति। अत्र सर्वगृहेषु आयव्ययादि-गणना नोचिता, मुनिवचने निर्णयानौचित्यादिति।

एक सौ आठ हाथ विस्तार का प्रधान राजगृह होता है। विस्तार में आठ हाथ उत्तरोत्तर छोटा करके अन्य चार राजगृह होना चाहिए और विस्तार का चतुर्थांश अधिक दीर्घ होता है। जैसा कि १०८ हाथ विस्तार और १३५ हाथ दीर्घ प्रधान राजगृह का होता है। इसी प्रकार अन्य सभी शेष ४ गृह होना श्रेष्ठ है ॥१७१-१७२॥

प्रधान राजगृह—

(१) १०८ विस्तार, दीर्घ १३५।

(२) १०० विस्तार, दीर्घ १२५ ।

(३) ९२ विस्तार, दीर्घ ११५ ।

(४) ८४ विस्तार, दीर्घ १०५ ।

(५) ७६ विस्तार, दीर्घ ९५ ।

इदमेव वराहोऽपि यथा—

उत्तममष्टाभ्यधिकं हस्तशतं नृपगृहं पृथुत्वेन ।

अष्टाष्टोनान्येवं पञ्च सपादानि दैर्घ्येण ॥१७३॥

सेनापतिगृहाणां प्रमाणमाह—

षड्भिः षड्भिर्हीना सेनापतिसद्मनां चतुःषष्टिः ।

एवं पञ्च गृहाणि षड्भागसमन्वितं दैर्घ्यम् ॥१७४॥

सेनापति के प्रधान गृह का विस्तार ६४ चौंसठ हाथ और ६ छ हाथ छोटे क्रम से अन्य (४) चार गृह होंगे और विस्तार का षड्भाग अधिक प्रत्येक गृह का दीर्घ होगा ॥१७४॥

१-प्रथमगृह— ६४ हाथ विस्तार, दीर्घ = ७४ हाथ- १६ अंगुल

२-द्वितीयगृह— ५८ हाथ विस्तार, दीर्घ = ६७ हाथ- १६ अंगुल

३-तृतीयगृह— ५२ हाथ विस्तार, दीर्घ = ६० हाथ- १६ अंगुल

४-चतुर्थगृह— ४६ हाथ विस्तार, दीर्घ = ५३ हाथ- १६ अंगुल

५-पञ्चमगृह— ४० हाथ विस्तार, दीर्घ = ४६ हाथ- १६ अंगुल

इस प्रकार सेनापति के पाँच गृह होते हैं ॥१७४॥

अथ राजमहिषी-सचिवगृहाणां प्रमाणमाह—

षष्टिश्चतुर्भिर्हीना वेश्मानि पञ्च सचिवस्य ।
स्वाष्टांशयुता दैर्घ्यं तदर्धतो राजमहिषीणाम् ॥१७५॥

सचिव (मन्त्रियों) के पाँच गृह होते हैं। प्रथम गृह साठ हाथ के विस्तार में, क्रमशः ४-४ हाथ छोटे विस्तार के अन्य चार गृह होंगे और सर्वत्र विस्तार का अष्टमांश अधिक दीर्घ होगा।

सचिव-गृहप्रमाण

विस्तार-हाथ	६०	५६	५२	४८	४४
अंगुल	०	०	०	०	०
दीर्घ-हाथ	६७	६३	५८	५४	४९
अंगुल	१२	०	१२	०	१२

सचिवों के गृह के आधे प्रमाण से राजमहिषी (राजाओं की प्रधान स्त्री—पटरानी) के पाँच गृह होते हैं। जैसा कि निम्न विवरण है—

राजमहिषी-गृहप्रमाण

विस्तार-हाथ	३०	२८	२६	२४	२२
अंगुल	०	०	०	०	०
दीर्घ-हाथ	३३	३१	२९	२७	२४
अंगुल	१८	१२	६	०	१८

युवराज-युवराजानुजगृहमानम्—

षड्भिः षड्भिश्चैवं युवराजस्यापवर्जिताऽशीतिः ।
त्र्यंशान्वितञ्च दैर्घ्यं पञ्च तदर्धैस्तदनुजानाम् ॥१७६॥

युवराज के अस्सी हाथ विस्तार व अपने तृतीयांश से युक्त दीर्घ प्रमाण के प्रथमादि गृह होंगे, प्रथमादि गृहों के विस्तार में उत्तरोत्तर छः हाथ हीन करके अन्य चार गृह होंगे ॥१७६ ॥

युवराज-गृहप्रमाण

विस्तार-हाथ	८०	७४	६८	६२	५६
अंगुल	०	०	०	०	०
दीर्घ-हाथ	१०६	९८	९०	८२	७४
अंगुल	१६	१६	१६	१६	१६

इसी रीति से युवराज के अनुजों के युवराजगृह के आधे प्रमाण से पाँच गृह होंगे।

युवराजानुज-गृहप्रमाण

विस्तार-हाथ	४०	३७	३४	३१	२८
अंगुल	०	०	०	०	०
दीर्घ-हाथ	५३	४९	४५	४१	३७
अंगुल	८	८	८	८	८

अथ [१]सामन्त-प्रवर-राजपुरुष-कञ्चुकि-वेश्या-कलाज्ञानां गृहमानम्—

नृपसचिवान्तरतुल्यं सामन्तप्रवर-राजपुरुषाणाम्।

नृपयुवराजविशेषः कञ्चुकिवेश्याकलाज्ञानाम् ॥१७७ ॥

राजा व मन्त्री के पाँचों गृहों के अन्तर क्रम से माण्डलिक राजा व प्रधान राजपुरुषों का गृह होना चाहिए। राजा व युवराज के पाँचों गृहों के अन्तर तुल्य कञ्चुकी, वेश्या व कलाविदों के भी पाँच-पाँच गृह होने चाहिए ॥१७७ ॥

नृप-सचिवसम्बन्धिनो गृहाणां परस्परं यदन्तरं तत्तुल्यं माण्डलिकप्रभृतीनां यथोक्तं सर्वेषां विस्तारायामौ भवितव्यौ ॥

१. सामन्ता माण्डलिका लघुसीमाबद्धाधिकारयुक्ता राजानः।

सामन्त व प्रधान-पुरुषों के गृहों का प्रमाण

विस्तार	४८	४४	४०	३६	३२
अंगुल	०	०	०	०	०
दीर्घ-हाथ	६७	६२	५६	५१	४५
अंगुल	१२	०	१२	०	१२

कञ्चुकी, वेश्या, कलाविदों के गृहों का प्रमाण

विस्तार-हाथ	२८	२६	२४	२२	२०
अंगुल	०	०	०	०	०
दीर्घ-हाथ	२८	२६	२४	२२	२०
अंगुल	८	८	८	८	८

अध्यक्षाधिकृतकर्मान्ताध्यक्षदूतानां पञ्चगृहाण्याह—

अध्यक्षाधिकृतानां सर्वेषां कोशरतितुल्यम् ।

युवराज-मन्त्रिविवरं कर्मान्ताध्यक्षदूतानाम् ॥१७८॥

अध्यक्षाः गज-अश्व-गोशालाध्यक्षास्तत्तत्कार्यप्रधानाः ।

कर्मान्ताध्यक्षा अन्यकार्ये नियुक्ता अधिकारिणः । शालाध्यक्षाः चत्वारिंशद्धीनाश्चतुर्भिश्च पञ्च यावदिति ।

घोड़ा, हाथी, गोशाला एवं पाचकादि कार्यों के अध्यक्षों का तथा अन्य कार्यों में नियुक्त अधिकारियों के निवास का गृह कोश व रति-गृह के समान होना चाहिए ।

युवराज व मन्त्री के गृहों का जो अन्तर (हस्तप्रमाण) है, वही कर्मान्तरों में नियुक्त (अधिकारी) अध्यक्षों, दूतों के गृह का प्रमाण होना चाहिए । कर्माध्यक्षों के गृह का प्रमाण जो ऊपर उद्धृत है, वही कार्यशालाध्यक्षों के गृहों का मान होगा ॥१७८ ॥

कर्मशालाध्यक्ष एवं दूतों के गृहों का प्रमाण

विस्तार-हाथ	२०	१८	१६	१४	१२
अंगुल	०	०	०	०	०
दीर्घ-हाथ	३९	३५	३२	२८	२५
अंगुल	४	१६	४	१६	४

दैवज्ञ-पुरोहित-भिषजां गृहप्रमाणम् —

चत्वारिंशद्धीनाश्चतुश्चतुर्भिस्तु पञ्च यावदिति ।
षड्भागयुता दैर्घ्या दैवज्ञपुरोधसोर्भिषजः ॥१७९॥

ज्यौतिषी, पुरोहित, वैद्यों के गृहों के प्रथम गृह का विस्तार ४० हाथ, अन्य चार गृहों का विस्तार ४-४ हाथ छोटा होगा और प्रत्येक गृह के विस्तार में उसी का षष्ठांश जोड़कर दीर्घप्रमाण होगा ॥१७९॥

ज्यौतिषी, पुरोहित, वैद्यों के गृहों का प्रमाण

विस्तार-हाथ	४०	३६	३२	२८	२४
अंगुल	०	०	०	०	०
दीर्घ-हाथ	४६	४२	३७	३२	२८
अंगुल	१६	०	८	१६	०

ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टयस्य गृहप्रमाणमाह वराहः —

चातुर्वर्ण्यव्यासो द्वात्रिंशत् स्याच्चतुश्चतुर्हीना ।
आषोडशादिति परं न्यूनतरमतीवहीनानाम् ॥१८१॥
सदशांशं विप्राणां क्षत्रस्याष्टांशसंयुतदैर्घ्यम् ।
षड्भागयुतं वैश्यस्य भवति शूद्रस्य पादयुतम् ॥१८२॥

ब्राह्मणादि चारों वर्णों के प्रथम गृहों का विस्तार क्रमशः ३२।२८।२४।२०।१६ हाथ का होना चाहिए, शेष चार-चार गृहों का विस्तार अपने प्रथम विस्तार से चार-चार हाथ छोटे क्रम से निर्धारित किया जाय। ब्राह्मण का १६ हाथ विस्तार से न्यून विस्तार का गृह शुभ नहीं है, ब्राह्मण के लिए, विस्तार में विस्तार का ही दशमांश जोड़कर दीर्घ, क्षत्रिय के लिए अष्टमांश, वैश्य के लिए षष्ठांश, शूद्र के लिए चतुर्थांश युक्त विस्तार-दैर्घ्य होगा। १६ हाथ से हीन विस्तार हीन जाति के लिए प्रशस्त है, जो आगे चक्र से स्पष्ट हो जायेगा ॥१८१-१८२॥

ब्राह्मण-गृह का प्रमाण
प्रथमादि पाँच गृह

विस्तार-हाथ	३२	२८	२४	२०	१६
अंगुल	०	०	०	०	०
दीर्घ-हाथ	३५	३०	२६	२२	१७
अंगुल	४	१९	९	०	१४
व्यंगुल	४८	१२	३६	०	२४

क्षत्रिय-गृहमान

विस्तार-हाथ	२८	२४	२०	१६
अंगुल	०	०	०	०
दीर्घ-हाथ	३१	२७	२२	१८
अंगुल	१२	०	१२	०

वैश्य-गृहप्रमाण

विस्तार-हाथ	२४	२०	१६
अंगुल	०	०	०
दीर्घ-हाथ	२८	२३	१८
अंगुल	०	८	१६

शूद्र-गृहप्रमाण

विस्तार-हाथ	२०	१६
अंगुल	०	०
दीर्घ-हाथ	२५	२०
अंगुल	०	०

पुनस्तस्यैव स्पष्टीकरणम्—

ब्राह्मणस्य—द्वात्रिंशदारभ्य षोडशान्तं पञ्च गृहाणि।

क्षत्रियस्य—अष्टाविंशतिमारभ्य षोडशान्तं चत्वारि।

वैश्यस्य—चतुर्विंशतिमारभ्य षोडशान्तं त्रीणि गृहाणि।

शूद्रस्य—विंशतिमारभ्य षोडशान्तं गृहद्वयमेवेति।

विप्रस्य स्वगृहस्य स्वदशांशयुतं विस्तारं दैर्घ्यम्। क्षत्रियस्य स्वाष्टांशयुतम्, वैश्यस्य स्वषड्भागयुतम्, शूद्रस्य स्वपादयुतं विस्तारं दैर्घ्यमानं भवतीति निर्गलितोऽर्थः।

अत्र सम्प्रदायानुरोधेन व्याख्यातम्, ननुपदं महिम्ना ग्राह्यमिति शम्।

पुनस्तदेव—

द्वात्रिंशद्धस्तविस्तीर्णं भवेद् ब्राह्मणमन्दिरम्।
प्रत्येकं क्षत्रियादीनां चतुर्हस्तविहीनकम् ॥१८३॥

स्पष्टार्थः ॥१८३॥

वस्वद्रिरसबाणांशैरायतं चोभयोरपि।
वर्धितं विषमैरंशैरायव्ययविशुद्धये ॥१८४॥

यद्युक्तमन्दिरमानेषु आयव्ययादिशुद्धिर्नोपलभ्यते, तदा तत्र कश्चिद्विषमोंऽशो दैर्घ्ये विस्तारे च योज्यो यथा आय-व्ययादिशुद्धिरुपपद्यते।

वर्णक्रम से जो गृहप्रमाण निर्दिष्ट है, उससे आय-व्ययादि शुद्धि न हो, तो दोनों विस्तार व दीर्घ में उसी का ८।७।६।५ वाँ भाग या विषम संख्या में अंगुलात्मक जोड़कर आय-व्यय की शुद्धि निकालनी चाहिए। यद्यपि निर्दिष्ट-संख्यक गृह में आय-व्ययादि शुद्धि आवश्यक नहीं है ॥१८४॥

कोश-रति-राजपुरुषगृहप्रमाणम्, यथाह वराहः —

नृपसेनापतिगृहयोरन्तरमानेन कोशरतिभवने।
सेनापतिचातुर्वर्ण्यविवरतो राजपुरुषाणाम् ॥१८५॥

राजा व सेनापति के गृहों के अन्तर प्रमाण से कोश (निधि) व रतिगृह होना चाहिए। सेनापति व चार वर्गों के गृहों के अन्तर से अपने-अपने वर्ग के राजपुरुषों का गृह होना चाहिए ॥१८५॥

विशेष—

यदि राजपुरुष ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण गृह के मान को सेनापति के गृहमान में घटाकर शेषतुल्य ब्राह्मणादि राजपुरुषों के पाँच गृहों का मान होना चाहिए।

सेनापति के द्वितीयादि गृह का मान व क्षत्रिय के प्रथमादि गृहों के अन्तर के बराबर क्षत्रिय प्रधान राजपुरुष का ४ गृह एवं द्वितीय-तृतीय, चतुर्थ-तृतीय, पंचम-चतुर्थ के अन्तर तुल्य क्षत्रिय-राजपुरुषों एवं सेनापति के तृतीय गृह से वैश्य के प्रथमादि गृहों के अन्तर तुल्य वैश्य-प्रधान राजपुरुषों व सेनापति के चतुर्थ-पंचम गृहों से शूद्र-गृहों के अन्तरतुल्य शूद्र-प्रधान राजपुरुषों का गृह होना चाहिए। चक्र से स्पष्ट हैं।

कोश व रति-गृहमान

विस्तार-हाथ	४४	४२	४०	३८	३६
अंगुल	०	०	०	०	०
दीर्घ-हाथ	६०	५७	५४	५१	४८
अंगुल	८	८	८	८	८

अत्र राजपुरुषा द्विविधाः—श्रेष्ठाः साधारणाश्च, तत्र श्रेष्ठानां प्रागेवोक्तम्- "नृपसचिवान्तरतुल्यमित्यादिना"।

अन्येषामिदम्, तत्राप्येवं विशेषः -सेनापतेः पञ्च गृहाणि सन्ति, तैः पञ्चभिरपि ब्राह्मणगृहैः सहान्तरं विधाय ब्राह्मणराजपुरुषस्य गृहपञ्चकनिर्माणम्, क्षत्रियादिराज- पुरुषाणां पुनरेकह्रासः पूर्वादिरिति क्रमानुरोधात्, तथा च सेनापतेर्द्वितीयादि चतुर्णां क्षत्रियस्य चतुर्भिरन्तरम्, वैश्यस्य तृतीयादित्रिकं वै गृहत्रयान्तरम्, चतुर्थादिद्विकस्य शूद्रसम्बन्धि गृहद्वयान्तरमिति व्याख्यातं तुल्यमेव सर्वेषां गृहं कार्यम्।

सेनापति प्रथमादि व ब्राह्मण के प्रथमादि गृहों के अन्तरतुल्य मान के बराबर ब्राह्मण-राजपुरुषों के पाँच गृह होंगे।

सेनापति-द्वितीयादि व क्षत्रिय प्रथमादि गृहों के अन्तरतुल्य मान के बराबर क्षत्रिय-राजपुरुषों के चार गृह होंगे।

सेनापति-तृतीयादि व वैश्य-प्रथमादि गृहों के अन्तरतुल्य मान के बराबर वैश्य-राजपुरुषों के तीन गृह होंगे।

सेनापति-चतुर्थादि व शूद्र के प्रथमादि गृहों के अन्तरतुल्य मान के बराबर शूद्र-राजपुरुषों के दो गृह होंगे।

चक्र में मानादि अंकित हैं।

ब्राह्मण-राजपुरुष-गृहमान

विस्तार-हाथ	३२	३०	२८	२६	२४
अंगुल	०	०	०	०	०
दीर्घ-हाथ	३९	३६	३४	३१	२९
अंगुल	११	२०	६	१६	१
व्यंगुल	१२	४८	२४	०	३६

क्षत्रिय-राजपुरुष के चार गृह

विस्तार-हाथ	३०	२८	२६	२४
अंगुल	०	०	०	०
दीर्घ-हाथ	३६	३३	३१	२८
अंगुल	४	१६	४	१६

वैश्य-राजपुरुष के तीन गृह

विस्तार-हाथ	२८	२६	२४
अंगुल	०	०	०
दीर्घ-हाथ	३२	३०	२८
अंगुल	१६	८	०

शूद्र-राजपुरुष के दो गृह

विस्तार-हाथ	२६	२४
अंगुल	०	०
दीर्घ-हाथ	२८	२६
अंगुल	१६	१६

अथ पारशवादीनां वास्तुप्रमाणं हीनाधिकस्य वास्तुनश्चाशुभत्वमाह—

अथ पारशवादीनां स्वमानसंयोगदलसमं भवनम् ।

हीनाधिकं स्वमानादशुभकरं वास्तु सर्वेषाम् ॥१८६॥

विशेषः—अथ ब्राह्मणेन शूद्रायां जातः पारशवः, वैश्यायां जातो भूर्जकण्टकः, क्षत्रियायां जातो मूर्धावसिक्तः। एतेषां पारशवादीनां समानसंयोगदलसमं भवनं कार्यम्। पारशवादिविवेचनया गृहमानं सौख्येनावगन्तव्यम्।

अन्येऽपि वर्णसंकरा अनुलोमप्रतिलोमादयस्तेषां मातृकुल-पितृकुलमानयोग-दलमानेन समानानि गृहाणि शुभानीति।

उपर्युक्त गद्य में पारशवादिकों की व्याख्या की गई है। अनुलोम-विलोम जाति से उत्पन्न मानवों को पारशवादि संज्ञा दी गई है, उनके लिए निवास का विधान यह है कि उनके माता व विजातीय पिता के वर्णानुसार जो गृह-मान निश्चित है, उन दोनों के योगदल तुल्य गृह का मान होना चाहिए। जैसे- पिता ब्राह्मण, माता शूद्रा है, तो ब्राह्मण व शूद्र के गृहमान के योगदल के समान मान होना चाहिए। इत्यादि जिस वर्ण के लिए जो गृहमान निश्चित है, उससे न्यून या अधिक गृहमान शुभ नहीं होता है ॥१८६॥

पारश अपर पर्याय निषाद-चाण्डालादि के गृहों का मान

विस्तार-हस्त	२०	१६
अंगुल	०	०
दीर्घ-हस्त	२३	१८
अंगुल	१२	१९
व्यंगुल	०	१२

वास्तुनि कश्यपोक्तोच्छ्रितिमानम्—

चतुःशालगृहेष्वेवमुच्छ्रायो व्याससम्मितः ।
विस्तारद्विगुणं दैर्घ्यमेकशालगृहेषु च ॥
वास्तुनि यो विस्तारः स एव चोच्छ्रायनिश्चयः शुभदः ।
शालैकेष्वपि गृहेषु विस्ताराद् द्विगुणितं दैर्घ्यम् ॥१८७॥

गह विस्तार के बराबर गृह की ऊँचाई शुभ है; किन्तु एकशाल गृह में विस्तार के द्विगुणित ऊँचाई हो सकती है। प्रसंगवश दैर्घ्य का ऊँचाई से तात्पर्य है ॥१८७ ॥

पारशवाश्रमिणां धान्यायुधवह्निरतिगृहाणां च परमतेनोच्छ्रायप्रमाणं चाह —

पश्वाश्रमिणाममितं धान्यायुधवह्निरतिगृहाणां च ।

नेच्छन्ति शास्त्रकारा हस्तशतादुच्छ्रितं परतः ॥१८८ ॥

चतुष्पद, परिव्राजक, धान्य, आयुध, अग्नि, रति व वनी (वानप्रस्थी) आदि के गृहों की ऊँचाई का परिमाण वास्तुशास्त्र सौ (१००) हाथ से अधिक की स्वीकृति नहीं देता ॥१८८ ॥

यथात्र गर्गः —

शतहस्तोच्छ्रितं कार्यं चतुःशालगृहं बुधैः ।

अपि तत्त्वेकशालं तु शुभदं तत्रकीर्तितम् ॥१८९ ॥

चतुःशाल (चतुर्दिक् द्वार) गृह सौ हाथ ऊँचा हो सकता है व एकशाल गृह के अपरिमित हाथ ऊँचा होने का विधान है।

अत्र पूर्वं कश्यपवचनेन विस्तारतुल्यमष्टोत्तरशतं परमोच्चमुक्तम्, इदानीन्तु गर्गवचनेन शतहस्तादधिकमुन्नतं निषिद्धमिति पूर्वापरविरोधं परिहृतमुत्पलेन— "द्वित्रिचतुःशालगृहेष्वेवोच्छ्रायनियमो नैकशालगृहेषु" इति।

द्विशाल-त्रिशाल-चतुःशाल गृहों में ऊँचाई का नियम है। एकशाल गृह में ऊँचाई यथेष्ट है।यह पहले भी उल्लिखित हो चुका है ॥१८९ ॥

तत्रैव व्यासतुल्यमुच्चत्वम्—

"एकशालं यथाकामं विस्तारं कामयेद् गृहम्" इति शक्रवचनात् तत्र, यत एकशालेषु वाराहेण स्वयमेव शालैकेषु गृहेष्वपि विस्ताराद्द्विगुणितं दैर्घ्यमित्युक्तम्।

एकशाल गृह की यथेष्ट उच्छृति कही गयी है; किन्तु वराह के मतानुसार एकशाल गृह में विस्तार से द्विगुणित ऊँचाई का प्राविधान किया गया है।

अत्र पुनः सपाददैर्घ्यमिति नायं यथा साधीयान् किञ्चैकशालं विप्रादीनां न क्रियते, इति स्वयमेव व्याख्यातम्।

तथा च वृद्धगर्गः—

अनाजीवकरं सर्वमेकशालमुदाहृतम् ।
अपि शाला तृणमयी कार्या तस्य शुभप्रदा ॥१९० ॥

प्रमाणरहित यथेष्ट एकशाल गृह उत्तम नहीं होता है; किन्तु तृणमयी शाला यथेष्ट भी शुभदायिनी होती है ॥१९० ॥

अपरे तु अष्टोत्तरहस्तशतमधिकप्रमाणं न्यूनपरिमाणं शतमिति वचनयोरभिप्रायं वर्णयन्ति । तदपि न नियमेन गणनाभिधानादित्यभिप्राय: ।

जो पूर्व में हस्त प्रमाण कहा गया है, उसमें किसका हाथ होना चाहिए । यह व्यवस्था नहीं दी गयी है, जो राजमार्त्तण्ड से प्राप्त है ।

तथाह राजमार्त्तण्डे —

स्वामिहस्तप्रमाणेन ज्येष्ठपत्नीकरेण वा ।
मनुजाद्धस्तसख्यानमिति प्रोक्तं पुरातनैः ॥

वास्तुशास्त्रेष्वपि —

गृहेषु हस्तमानं स्यात्स्वामिहस्तप्रमाणतः ।
देवादीनान्तु धिष्णेषु कर्महस्तेन केवलम् ॥१९१ ॥

गृह-निर्माण में गृहस्वामी या ज्येष्ठ-पत्नी के हाथ का प्रमाण माना गया है और देवस्थानों में कर्मकार (कार्य करने वाला पुजारी सेवक) के हाथ का प्रमाण स्वीकृत है ॥१९१ ॥

अन्ये तु—

विस्तारतुल्योच्चताविधानमुत्सर्गः । शतहस्ताधिक्यनिषेधवचने न बाध्यतेत्याहुः ।

अन्याचार्यों के अनुसार विस्तार के बराबर ऊँचाई का जो विधान है, वह उत्सर्ग है । शत या शत से अधिक हाथ ऊँचाई के निषेध में बाध्यता नहीं है ।

वस्तुतस्तु गर्गवाक्ये शताधिकस्य निषेधो नास्ति तेन शतपदमष्टोत्तरशतमुपन्यस्तम्, कश्यपवचनस्वरसात् ।

राज्ञो द्वितीयगृहप्रमाणं शतहस्तविस्तारमितं वराहेणाऽप्युक्तम् ।

गृह की ऊँचाई में अनेकानेक वचनों की उपलब्धि है; परन्तु वास्तुशिल्प-शास्त्रविदों के अनुसार गृह की ऊँचाई १०० हाथ से अधिक नहीं होनी चाहिए— "यथा नेच्छन्ति शास्त्रकाराः" इति।

अथ शाला-अलिन्दयोः प्रमाणं वराहोक्तं यथा—

सेनापतिनृपतीनां सप्ततिसहिते द्विधा कृते व्यासे ।
शालाचतुर्दशहृते पञ्चत्रिंशद्धृतेऽलिन्दः ॥१९२॥

सेनापति व राजा (चातुर्वर्ण्य-विवर्जित) के गृहों की चौड़ाई में ७० सत्तर जोड़े और उसे दो स्थानों में लिखे, प्रथम स्थान में १४ व दूसरे स्थान में ३५ पैंतीस के भाग से प्राप्त हाथ व अंगुल के बराबर घर की चौड़ाई व बरामदे (भीतर का ओसारा) की चौड़ाई बनावे ॥१९२॥

उदाहरण—

राजा के उत्तम गृह की चौड़ाई १०८ हाथ है, उसमें ७० जोड़ने पर १७८ हुआ, इसमें १४ चौदह का भाग देने पर लब्धि १२ हाथ, १७ अंगुल, ८ व्यंगुल शाला[१] (घर) की चौड़ाई और १७८ में ३५ पैंतीस का भाग देने पर ५ हाथ, २ अंगुल, ३ व्यंगुल अलिन्द (भीतर के ओसारा) की चौड़ाई होगी, सभामण्डप आदि में भी गृह जैसी व्यवस्था है। (सेनापतिग्रहणमुपलक्षणमिति।) सेनापति ग्रहण मात्र उपलक्षण है।

पूर्वमुक्तमष्टाभ्यधिकहस्तशतमित्यादिक्षेत्रप्रमाणं तत्र चायं निर्माणविधिरिति अस्यापवादः शाला-अलिन्दादि-मानादिकम्।

पूर्व में जो १०८ हाथ क्षेत्र का प्रमाण दिया गया है, उसके अनुसार उपर्युक्त शाला-अलिन्द का प्रमाण निर्माण-विधि के अनुसार है।

अथ चातुर्वर्ण्यस्य शालालिन्दयोः प्रमाणमाह—

हस्तद्वात्रिंशादिषु चतुश्चतुस्त्रित्रिकत्रिकाः शालाः ।
सप्तदशत्रितयतिथित्रयोदशकृताङ्गुलाभ्यधिकाः ॥१९३॥

---

१. "शालाशब्देन गृहाभ्यन्तरमुच्यते। अलिन्दशब्देन शालाभित्तेर्बाह्या या गमनिका जालकावृता आंगणसम्मुखीक्रियते, सा ज्ञेया" इत्युत्पलः।
शाला = घर की चौड़ाई, अलिन्द = भीतर का ओसारा। "प्राङ्गणप्रयाणालिन्दा बहिर्द्वारप्रकोष्ठकाः" इत्यमरः।

त्रित्रिद्विद्विद्विसमाः क्षयक्रमादङ्गुलानि चैतेषाम् ।
एकोनविंशतिरष्टौ विंशतिरष्टादशत्रितयम् ॥१९४॥

अस्य व्याख्या—

द्वात्रिंशेत्यादिना चातुर्वर्ण्यमुपलक्ष्यते, तेषां शालापरिमाणमिदं यथा चतुरादयो हस्ताः ४ ।४ ।३ ।३ ।३ । सप्तदशाद्यङ्गुलैरधिकाः पञ्चानामपि गृहाणां शालापरिमाणमिति । तथा च त्र्यादिहस्ताः ३ । ३ । २ । २ । २ एकोनविंशत्यङ्गुलादिः १९ ।८ ।२० ।१८ ।३ सहितास्तेषु प्रथमादिगृहेषु अलिन्दमानम् । अत्र गृहस्य संख्या क्षयक्रमादिति ।

तद्यथा—

चातुर्वर्ण्यस्य प्रथमगृहे, प्रधानगृहे सप्तदशाङ्गुलाभ्यधिका चतुर्हस्तशाला कार्या । द्वितीयगृहे त्र्यङ्गुलाधिकचतुर्हस्ता, तृतीयगृहे पञ्चदशभिरङ्गुलैरधिका त्रिहस्तात्मिका, चतुर्थगृहे त्रयोदशभिरङ्गुलैरधिका त्रिहस्तमिता, पञ्चमगृहे चतुरङ्गुलैरधिका त्रिहस्तमिता शाला कार्या ।

एवं यद्ब्राह्मणस्य द्वितीयगृहं तत्क्षत्रियस्य प्रथमं प्रधानगृहम् ।

यत् क्षत्रियस्य द्वितीयं तद्वैश्यस्य प्रधानम्, यद्वैश्यस्य द्वितीयं तच्छूद्रस्य प्रधानम् । अनेनैव (क्रमेण) प्रकारेण शालाप्रमाणं सिद्धम् ।

ब्राह्मणादि चारों वर्णों के बत्तीस (३२) हाथ इत्यादि चौड़ाई के पाँच गृहों में उपर्युक्त क्रम से शाला और अलिन्द का निर्माण करना चाहिए, एवं क्षत्रियादि वर्णक्रम से गृह-संख्या एकादि क्षय-क्रम से प्रयोग करें । यथा—

प्रथम गृह में ४ हाथ, १७ अंगुल की शाला और ३ हाथ, १९ अंगुल का अलिन्द बनावे ।

इस प्रकार से ब्राह्मण के द्वितीय गृहादि क्षत्रिय के प्रधान गृहादि, क्षत्रिय के द्वितीय गृहादि वैश्य के प्रधान गृहादि होंगे, वैश्य के द्वितीय गृहादि शूद्र के प्रधान गृहादि होंगे ॥१९३ - १९४॥

विशेष—

इस प्रकार क्षत्रिय के चार, वैश्य के तीन एवं शूद्र के दो गृह होंगे । ब्राह्मण गृह का द्वितीयादि गृह क्षत्रिय का प्रथमादि, क्षत्रिय का द्वितीयादि वैश्य का प्रथमादि,

वैश्य का द्वितीयादि शूद्र का प्रथमादि गृह होगा, यह गृह-क्रम है, न कि हाथ या अंगुल का क्षय है। चक्र से मान स्पष्ट है।

(न) ब्राह्मणादि वर्णों के पूर्वनिश्चित प्रथमादि गृहों के शाला-अलिन्द-प्रमाण

ब्राह्मण	४ हाथ १७ अंगुल	४ हाथ ३ अंगुल	३ हाथ १५ अंगुल	३ हाथ १३ अंगुल	३ हाथ ४ अंगुल	शाला
	३ हाथ १९ अंगुल	३ हाथ ८ अंगुल	२ हाथ २० अंगुल	२ हाथ १८ अंगुल	२ हाथ ३ अंगुल	अलिन्द
क्षत्रिय	४ हाथ ३ अंगुल	३ हाथ १५ अंगुल	३ हाथ १३ अंगुल	३ हाथ ४ अंगुल	—	शाला
	३ हाथ ८ अंगुल	२ हाथ २० अंगुल	२ हाथ १८ अंगुल	२ हाथ ३ अंगुल	—	अलिन्द
वैश्य	३ हाथ १५ अंगुल	३ हाथ १३ अंगुल	३ हाथ ४ अंगुल	—	—	शाला
	२ हाथ २० अंगुल	२ हाथ १८ अंगुल	२ हाथ ३ अंगुल	—	—	अलिन्द
शूद्र	३ हाथ १३ अंगुल	३ हाथ ४ अंगुल	—	—	—	शाला
	२ हाथ १८ अंगुल	२ हाथ ३ अंगुल	—	—	—	अलिन्द

अथ वीथिकाप्रमाणम्, तदुपलक्षिताना च वास्तूनां नामान्याह—

शालात्रिभागतुल्या कर्त्तव्या वीथिका बहिर्भवनात् ।
यद्यग्रतो भवति सा सोष्णीषं नाम तद्वास्तु ॥१९५॥
सायाश्रयमिति पश्चात्सावष्टम्भं तु पार्श्वसंस्थितया ।
सुस्थितमिति च समन्ताच्छास्त्रज्ञैः पूजिताः सर्वाः ॥१९६॥

राजा के गृह की चौड़ाई[1] का जो प्रमाण कहा गया है, उसके त्रिभाग (तृतीयांश) के बराबर गृहक्षेत्र के बाहर की गमनिका (गली) बनानी चाहिए। यदि यह वीथी गृह के आगे (पूर्व) की जाय, तो वास्तु का नाम सोष्णीष होगा। यदि गृह के पश्चिम भाग में हो, तो सायाश्रय नाम का वास्तु होगा, उत्तर एवं दक्षिण वीथी होने पर वास्तु का नाम सावष्टम्भ और चारों दिशा में हो तो सुस्थित नाम होगा। ये सभी वास्तुविदों द्वारा शुभ कहे गये हैं। अर्थात् सभी नाम शुभ है ॥१९५-१९६॥

शालाप्रमाणं यदुक्तं तस्य तृतीयांशभागो वीथी, सा भवनाद्बहिर्भागे कार्या इति सर्वं पूर्वमेवोक्तम्।

जिस गृह की जो शाला है, उसके तृतीय भाग के बराबर वीथी होनी चाहिए, जैसे शाला ४ हाथ १७ अंगुल की है, तो वीथी-१ हाथ १३ अंगुल ४० व्यंगुल की होनी चाहिए।

अत्रैव किरणाख्ये तन्त्रे--

यः शालायास्तृतीयांशस्तेन कार्या तु वीथिका।
यद्यग्रतो भवेद्वीथी सोष्णीषं नाम तद्गृहम् ॥
पश्चात्सायाश्रयं नाम सावष्टम्भन्तु पार्श्वयोः।
समन्ताद्यदि जाता सा तदा सुस्थितमुच्यते ॥

---

१. चौड़ाई का तात्पर्य शाला से है।

समस्तवास्तुनि भौमप्रमाणम्—

विस्तारषोडशांशः सचतुर्हस्तो भवेद् गृहोच्छ्रायः ।
द्वादशभागेनोनो भूमौ भूमौ समस्तानाम् ॥१९७॥

यथाष्टोत्तरशतं राजगृहस्य विस्तारषोडशांशः सचतुर्हस्तो दशहस्ताष्टादशांगुलैः सम इति, दशहस्ताष्टादशाङ्गुलतुल्यं प्रथमराजगृहस्य भूमिकामानम्। अर्थाद् भूतः प्रथमगृहस्योच्छ्रितिर्दशहस्ताष्टादशाङ्गुलसमेति ।

तथा च द्वितीयभूमिकामानं प्रथमभूमिकामानं स्वद्वादशभागोनसममिति । सर्वत्रोपर्युपरि भूमयो ज्ञेयाः। एवमेव सेनापत्यादीनां गृहेषु स्वस्वविस्तारवशेन कल्पना ज्ञेया ।

वास्तु के विस्तार (चौड़ाई) के सोलहवें भाग से युक्त चार हाथ के बराबर (विस्तार ÷ १६ + ४ हाथ) प्रथम भूमि (प्रथम तल) की ऊँचाई होनी चाहिए। जैसे प्रथम राजगृह की चौड़ाई १०८ हाथ है, उसका सोलहवाँ भाग ६ हाथ, १८ अङ्गुल, इसमें ४ हाथ जोड़ने पर १० हाथ, १८ अंगुल होता है। अतः प्रथम छत की ऊँचाई भूमि से १० हाथ, १८ अंगुल होनी चाहिए। इसी प्रकार सर्वत्र प्रयोग करें। द्वितीयादि भौम की ऊँचाई अपने पूर्व भौम की ऊँचाई का बारहवाँ भाग क्रमश· हीन होना चाहिए। यथा— प्रथम भौम १० हाथ, १८ अंगुल है, तो द्वितीय भौम ९ हाथ, २० अंगुल, ३० व्यंगुल, तृतीय भौम ९ हाथ, ० अंगुल, ४८ व्यंगुल होगा। चतुर्थ भौम ८ हाथ, ६ अंगुल, ४४ व्यंगुल, पञ्चम भौम ७ हाथं, १४ अंगुल, २९ व्यंगुल, षष्ठ भौम ६ हाथ, २३ अंगुल, १७ व्यंगुल, सप्तम भौम ६ हाथ, ९ अंगुल, २१ व्यंगुल, अष्टम भौम ५ हाथ, १६ अंगुल, १४ व्यंगुल, इसी प्रकार सर्वत्र प्रयोग करें ॥१९७॥

तत्र भौमसंख्याविषये विश्वकर्मामतम्—

यजन्ते राजसूयाद्यैः क्रतुभिर्येऽवनीश्वराः ।
तलैरर्धाष्टमैस्तेषां कारयेद्भवनोत्तमम् ॥१९८॥
तथार्धसप्तमैरेव विप्राणां कारयेद् गृहम् ।
अर्धषष्ठैः क्षत्रियाणां वैश्यानामर्धपञ्चमैः ॥
त्रिभिः सार्धैश्च शूद्राणां भवनं शुभदं स्मृतम् ॥१९९॥

राजा राजसूयादि यज्ञ करते हैं, इसलिए उनके सातों भवनों (स्तर-छतों) के योग में आठवें भौम के आधे के (७ भौमोच्च + आठ भौमोच्च ÷ २ = कुल ऊँचाई) योगतुल्य ६१ हाथ, १७ अंगुल, ३० व्यंगुल की ऊँचाई का भवन प्रशस्त (उत्तम) है। भौमों की ऊँचाई १९७ श्लोक से स्पष्ट है। एवं सर्वत्र समझना चाहिए। यथा—

साढ़े छः भौम के योगतुल्य ऊँचाई का विप्र-गृह, साढे पाँच भौम के योगतुल्य ऊँचाई का क्षत्रिय-गृह, साढ़े चार भौम के योगतुल्य ऊँचाई का वैश्य-गृह, एवं साढ़े तीन भौम के योगतुल्य ऊँचाई का शूद्र-गृह उत्तम होता है ॥१९८-१९९ ॥

ग्रन्थकर्तुर्व्याख्या —

अर्धाष्टमैरित्यत्र अर्धम् अष्टमं येषां सप्तभौमानां ते अर्धाष्टमा इति बहुव्रीहिः। सार्धसप्तमेत्यर्थत एवमेवापरेष्वपि।

अपरं च मन्दबुद्धिकृते विश्वकर्मोक्तिर्यथा साधारणेन हस्तेन **गृहोच्छ्राये हस्तसंख्यामाह —**

साधारणेन हस्तेन परं शूद्रस्य विंशतिः ।
चत्वारिंशच्च वैश्यस्य षष्टिः स्यात्क्षत्रियस्य तु ॥२०० ॥
ब्राह्मणस्य तथाशीतिः शतं च नृपतेः स्मृतम् ।
नातः परतरं नृणामूर्ध्वमानं विधीयते ॥
गन्धर्वसिद्धयक्षाणां धर्मतः समुदाहृतम् ॥२०१ ॥

शूद्रों के गृह की ऊँचाई २० हाथ होनी चाहिए और वैश्यों के ४० हाथ, क्षत्रियों के ६० हाथ, ब्राह्मणों के अस्सी हाथ से अधिक ऊँचाई नहीं होनी चाहिए। गन्धर्व, सिद्ध, यक्षों के लिए ९ भौम से भी अधिक ऊँचाई होती है ॥२००-२०१ ॥

अथ भित्तिप्रमाणं वराहः —

व्यासात्षोडशभागः सर्वेषां सद्मनां भवेद् भित्तिः ।
पक्वेष्टिकाकृतानां दारुमयानान्तु न विकल्पः ॥२०२ ॥

राजादि पारशवपर्यन्त सभी जातियों के लिए अपने विस्तार के सोलहवें भाग के बराबर भित्ति का प्रमाण होना चाहिए। जैसा कि राजगृह का विस्तार १०८ हाथ है, इसका सोलहवाँ भाग ६ हाथ १८ अंगुल होता है। अतः राजा के गृह की भित्ति का प्रमाण ६ हाथ १८ अंगुल मोटा (चौड़ा) होना चाहिए। इसी प्रकार सभी वर्णों के लिए भित्तिमान होना चाहिए ॥२०२ ॥

तथा च गर्ग: —

विस्तारषोडशांशेन गृहभित्तिं प्रकल्पयेत्।

हीनाधिका न कर्त्तव्या गृहभर्तुर्न शोभना ॥

भित्ति का प्रमाण पके ईंट के गृह के लिए है, तृण व लकड़ी के बने गृह में आवश्यक नहीं है, उनमें यथेष्ट भित्ति का मान कर सकते हैं। मात्र भित्ति ही क्यों? विस्तार, दैर्घ्य एवं ऊँचाई भी यथेष्ट कर सकते हैं।

यथोक्तं किरणाख्ये तन्त्रे—

पक्वेष्टानामयं व्यासो दारुजानां यथेच्छया।

ध्वजाद्येवं गृहं कार्यं तच्छुभं स्यात् स्वदिग्गतम्।

नव त्रयोदशाद्यैश्च करैर्ज्ञात्वा प्रकल्पयेत् ॥

॥ इति षष्ठो भागः ॥



अथ सप्तमो भागः

अथ द्वारज्ञानम्—

नृपबलेशद्वारेण चातुर्वर्ण्यविवर्जितानां सर्वेषां वास्तूनां द्वारप्रमाणं वाराहेणोक्तम्, यथा—

एकादशभागयुतः ससप्ततिर्नृपबलेशयोर्व्यासः ।
उच्छ्रायोऽङ्गुलतुल्यो द्वारस्यार्धेन विष्कम्भः ॥२०३॥

यथा—

'राजगृहस्याष्टोत्तरशतं व्यासः' इत्यस्य एकादशभागः किञ्चिन्न्यूनो दशसमः[१] तेन सप्तशत्या च युक्तो व्यासोऽष्टाशीत्यधिकशताङ्गुलसमा नृपद्वारस्योच्छ्रतिस्तद-र्धेन चतुर्नवतितुल्याङ्गुलेन समो द्वारस्य विष्कम्भ इति विज्ञेयम्।

राजा, सेनापति एवं अन्य जिस किसी भी चार वर्णों से भिन्न जातिं के लिए जो व्यास विस्तार है, उसमें उसी का ग्यारहवाँ भाग व सत्तर जोड़ने पर जो संख्या होगी, उतना ही अंगुल उसके द्वार की ऊँचाई होगी (जिसका विस्तार लिखा गया है) और ऊँचाई के आधे के बराबर द्वार का विस्तार (चौड़ाई) होना चाहिए।

उदाहरण—

राजगृह का विस्तार १०८ है, इसका ग्यारहवाँ भाग ९ हाथ, १९ अंगुल हुआ, इसको १०८ +७० में जोड़ने पर १८७ हाथ, १९ अंगुल राजा के द्वार की ऊँचाई होगी, १८७।१९ के स्थान पर १८८ स्वल्पान्तर से गृहीत है और १८८ का आधा =९४ अंगुल नृप-द्वार का व्यास होगा।

यथोक्तमुत्पलेन — "अष्टाशीतिसहितं शतं वा अष्टाशीत्यधिकं शतं नृपद्वारो-च्छ्रतिरिति"।

एवमेव अन्य व्यक्तियों के लिए भी द्वार की उच्छ्रति व व्यास का निश्चय करना चाहिए॥२०३॥

---

१. राजगृहद्वारोच्छ्रतिः।

चातुर्वर्ण्यस्य द्वारप्रमाणमाह –

विप्रादीनां व्यासात् पञ्चांशोऽष्टादशाङ्गुलसमेतः ।
साष्टांशो विष्कम्भो द्वारस्य त्रिगुण उच्छ्रायः ॥२०४ ॥

ब्राह्मण-क्षत्रिण-वैश्य-शूद्र गृह के विस्तार का पंचमांश तुल्य अंगुल १८ अठारह में जोड़ दे और उसी का अष्टमांश भी योगसंख्या में जोड़ने पर जो संख्या होगी, उतना द्वार की चौड़ाई और चौड़ाई की त्रिगुणित द्वार की ऊँचाई होगी।

उदाहरण–

ब्राह्मण के गृह का व्यास ३२ हाथ है, उसका पंचमांश स्वल्पान्तर से ६ हुआ, इसको १८ में जोड़ने पर २४ संख्या हुई, २४ का अष्टमांश ३ है, जिसे २४ में जोड़ने पर २७ हुआ। यही ब्राह्मण-गृह के द्वार की चौड़ाई होगी और चौड़ाई का तिगुना २७ x ३ = ८१ यह द्वार की ऊँचाई हुई, इस प्रकार सर्वत्र प्रयोग में लावें ॥२०४ ॥

अथ शाखोदुम्बरादीनां प्रमाणमाह–

उच्छ्रायहस्तसंख्यापरिमाणान्यङ्गुलानि बाहुल्यम् ।
शाखाद्वयेऽपि कार्यं सार्धं तत् स्यादुदुम्बरयोः ॥२०५ ॥
उच्छ्रायात् सप्तगुणादशीतिभागः पृथुत्वमेतेषाम् ।
नवगुणितोऽशीत्यंशः स्तम्भस्य दशांशहीनोऽग्रे ॥२०६ ॥

अथ नृपगृहद्वारस्योच्छ्रायोऽङ्गुलान्यष्टाशीत्यधिकं शतम् । अतो हस्ता अर्द्धाधिकेनाष्टौ भवन्ति। एतावन्त्यङ्गुलानि शाखाद्वये बाहुल्यमिति घनत्वे प्रयोजनम् । सार्धमष्टकं {८ + (८ ÷ २) = १२} द्वादशांगुलानि जातानि, उदुम्बरयोः घनत्वमानानि। तथा च नृपद्वारोच्छ्रायोऽष्टाधिकाशीत्यधिकं शतमङ्गुलमिति पूर्वकल्पनयेति। सोच्छृतिः सप्तगुणिता अशीतिभक्ता स्वल्पान्तरात्सार्धषोडशमिति जातम् । इदमेव राजद्वारशाखोदुम्बराणां पृथुत्वमपेक्षितम् ।

पूर्वोक्त रीति से द्वारशाखा की ऊँचाई का जो अंगुलात्मक मान होगा, उसका जो हस्तात्मक मान होगा, उतने अंगुल के बराबर घनत्व दोनों शाखाओं का होगा और द्वारशाखा का घनत्व मान अपने आधे से युक्त संख्यातुल्य घनत्व, द्वार के नीचे-ऊपर के काष्ठों में होगा।

उदाहरण —

राजद्वार की उच्छ्रृति पूर्वोक्त रीति से १८८ अंगुल है। यह हाथ के मान से ७ हाथ, २० अंगुल हुआ। जो शास्त्रानुसार स्वल्पान्तर से ८ हाथ मान लिया गया। अतः आठ अंगुल घनत्व द्वार की दोनों शाखाओं में होगा और आठ के आधे चार को आठ में जोड़ने से बारह अंगुल हुआ। इस बारह अंगुलतुल्य घनत्व शाखा के नीचे व ऊपर दोनों काष्ठों में होगा। इस प्रकार अन्यत्र भी समझें।

सात से गुणा की गयी अंगुलात्मक द्वार की ऊँचाई को अस्सी से भाग देने पर लब्धि के बराबर शाखा एवं उदुम्बरों का पृथुत्व होना चाहिए।

उदाहरण —

ऊँचाई १८८ x ७ ÷ ८० = १६ अंगुल, २७ व्यंगुल। स्वल्पान्तर से १६ अंगुल द्वार के सभी काष्ठों का पृथुत्व होगा।

विशेष —

समचतुरस्र लकड़ी की ऊँचाई को घनत्व और चौड़ाई को पृथुत्व कहते हैं। यथा — समचतुरस्र काष्ठ—

ऊँचाई = घनत्व

चौड़ाई = पृथुत्व

स्तम्भ-प्रमाण —

राजगृह का प्रथम भौम १० हाथ १८ अंगुल है, यही ऊँचाई स्तम्भों की भी होगी। अतः स्तम्भ की ऊँचाई को ९ से गुणा और ८० का भाग देवे, जो लब्धि हो, वह स्तम्भ के मूल का पृथुत्व होगा, वही पृथुत्व अपने दशांश से ऊन होकर (घटकर) शेष-तुल्य पृथुत्व स्तम्भ का अग्रभाग होगा। जैसे—

१० हाथ १८ अं. x ९ ÷ ८० = २९ + १ ÷ ४० ल. के स्थान पर स्वल्पान्तर से २८ अंगुल पृथुत्व स्तम्भ के मूल में हुआ और २८—(२८ ÷ १०) = अंगुल पृथुत्व में स्वल्पान्तर से २६ अंगुल स्तम्भ के अग्रभाग का पृथुत्व स्वीकृत है।

पुनः {२८— (२८ ÷ १०)} ३ = स्तम्भ की परिधि (गोलाई अंगुलात्मक) होगी। यहाँ पूर्वलब्धि = २९ के ग्रहण से स्तम्भपरिधि ८१ अंगुल गणित सिद्ध है ॥२०५-२०६॥

अथ स्तम्भादीनां नामान्याह—

समचतुरस्रो रुचको वज्रोऽष्टास्रिर्द्विवज्रको द्विगुणः ।
द्वात्रिंशता तु मध्ये प्रलीनको वृत्त इति वृत्तः ॥२०७॥

स्तम्भों के नाम—

जिसके बीच का भाग समचतुरस्र (समान चार कोण) हो, उसे रुचक और आठ कोण वाले स्तम्भ को वज्र, जिसके मध्य का भाग सोलह कोण का हो, उसे द्विवज्र, जिसके मध्य का भाग ३२ कोण का हो, उसे प्रलीनक कहते हैं, जिसके मध्य का भाग वर्तुल (गोला) हो, उसे वृत्त कहते हैं। ये पाँच स्तम्भ सर्वतोभावेन प्रशस्त हैं ॥२०७॥

किरणाख्ये तन्त्रे स्तम्भनामानि यथा—

वेदास्रो रुचकः स्तम्भो वज्रोऽष्टास्रियुतो मतः ।
द्विवज्रः षोडशास्रिः स्याद् द्विगुणास्रिः प्रलीनकः ॥
समन्तवृत्तो वृत्ताख्यः स्तम्भः प्रोक्तो द्विजोत्तमैः ॥ इति ।

स्तम्भं विभज्य नवधा वहनं[१] भागो घटोऽस्य भागोऽन्यः ।
पद्मं तथोत्तरोष्ठं कुर्याद् भागेन भागेन ॥२०८॥

स्तम्भ को नव भागों में विभक्त कर प्रत्येक भाग स्पष्ट रूप से चिह्नित कर दें, उसके सबसे नीचे के भाग को वहन, उसके ऊपर के भाग को घट और तीसरे से आठवें भाग तक पद्म और पद्म के ऊपर नवें भाग को उत्तरोष्ठ कहते हैं। उत्तरोष्ठ भाग सुन्दर एवं विशिष्ट होना चाहिए। कुछ आचार्यों के अनुसार आठवें को उत्तरोष्ठ एवं नवें को कमल कहते हैं। इसका विवरण निम्नाङ्कित है।

स्तम्भ को नव भागों में विभक्त कर नीचे व ऊपर के चार भाग हिरण्यादि और पाँचवें भाग को समचतुरस्र कहते हैं।

---

१. उह्यते धार्यते भूमौ येन स्तम्भभागेन तद्वहनमिति। स्तम्भस्य नवभागेषु प्रथमो भाग उद्वहनमिति कथ्यते।

यथोक्तमुत्पलेन—

"नवधा विभक्ते स्तम्भेऽधरोर्ध्वभागचतुष्केऽधो हिरण्यादीनि कार्याणि, शेषं भागपञ्चकं समचतुरस्रादिकं कार्यम्" इति । अत्रैव च किरणाख्ये तन्त्रे —

विभज्य नवधा स्तम्भं कुर्यादुद्वहनं घटम् ।

कमलं चोत्तरोष्ठं तु भागे भागे प्रकल्पयेत् ॥

अथ भारतुला-तुलोपतुलानां च प्रमाणमाह—

स्तम्भसमं बाहुल्यं भारतुलानामुपर्युपर्यासाम् ।

भवति तुलोपतुलानामूनं पादेन पादेन ॥२०९ ॥

ततः कलशादयः केचिद् उत्तरोष्ठः, अष्टमे, नवमे च कमलमिच्छन्ति ।भारं तोलयन्तीति भारतुलास्तम्भस्योपरि तिर्यग्रूपं यत्काष्ठं दीयते, तद्भारतुला इति । भारतुलोपरि यत्काष्ठं तत्तुलोपतुलासंज्ञम् । (राजगृहे स्तम्भानां तुलानाञ्च बाहुल्यात् तुला इत्यत्र बहुवचनम्) तत्र राजगृहे स्तम्भस्य अष्टाविंशत्यङ्गुलानि पृथुत्वानि । एतानि पादोनानि एकविंशत्यङ्गुलानि, उपतुलापृथुत्वघनत्वमानानीति, उत्तरोत्तरं पूर्वापेक्षया चतुर्थांशहीनेन क्रमेण तुलोपतुलानां पृथुत्व-घनत्वमानानि भविष्यन्ति ।

स्तम्भ के ऊपर प्रथम काष्ठ को भारतुला, भारतुला के ऊपर के काष्ठ को उपतुला व उपतुला के ऊपर के काष्ठ को तुलोपतुला इत्यादि कहते हैं ।

प्रथम भारतुला का घनत्व व पृथुत्व स्तम्भ जैसा ही होना चाहिए और भारतुला के ऊपर उपतुला का घनत्व व पृथुत्व भारतुला के घनत्व, पृथुत्व से चतुर्थांश न्यून होगा । इसी प्रकार उत्तरोत्तर तुलोपतुला आदि का घनत्व, पृथुत्व पूर्व की अपेक्षा चतुर्थांश न्यून (हीन, होते जाना चाहिए ।

उदाहरण—

राजगृह के स्तम्भ का पृथुत्व २८ अंगुल है, तो प्रथम भारतुला का पृथुत्व भी २८ अंगुल होना चाहिए । इसके ऊपर उपतुला का पृथुत्व = भारतुला = पृथुत्व — भारतुला ÷ ४ = २८—(२८ ÷ ४) = २८— ७ = २१ अंगुल होगा ।

इसी प्रकार अन्य तुलोपतुलाओं का पृथुत्व-घनत्व का मान निश्चय किया जाय ॥२०९ ॥

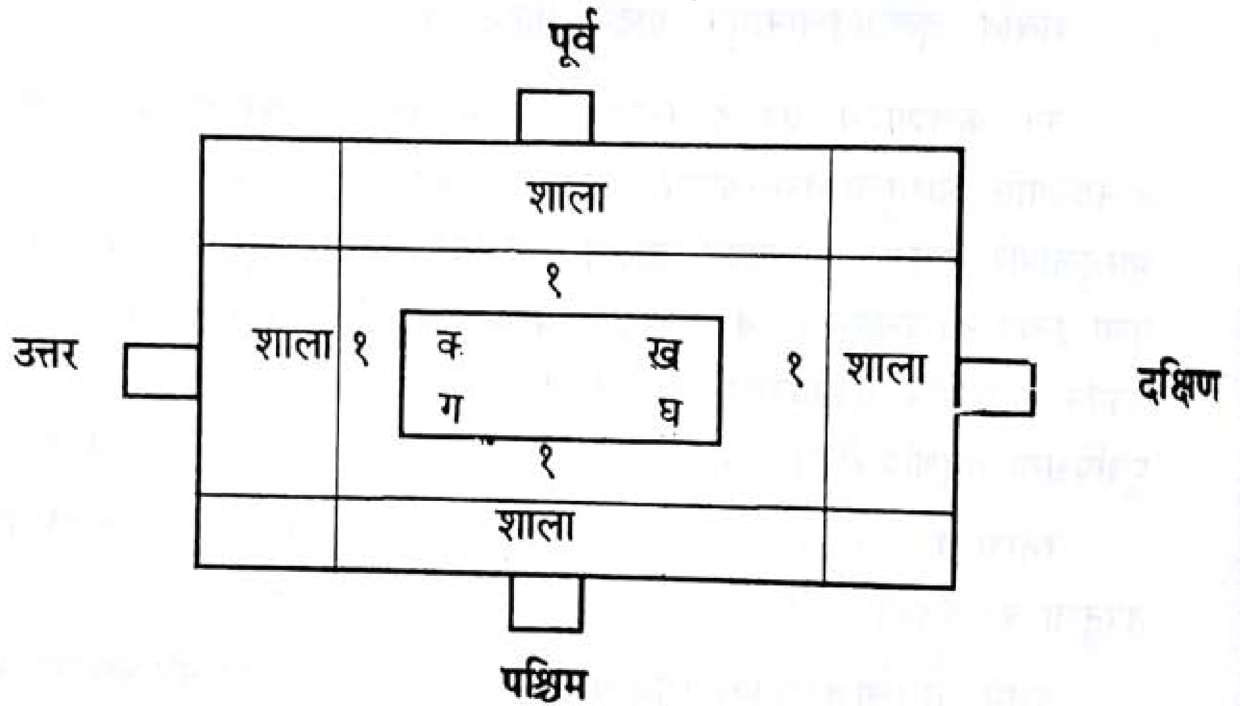
अत्र वास्तुप्रकरणे पञ्च चतुःशालानि गृहाणि भवन्ति । सर्वतोभद्र-नन्द्यावर्त-वर्धमान-स्वस्तिक-रुचकाख्यानि । तत्रादौ सर्वतोभद्रस्य लक्षणमाह—

अप्रतिषिद्धालिन्दं समन्ततो वास्तु सर्वतोभद्रम् ।

नृपविबुधसमूहानां कार्यं द्वारैश्चतुर्भिरपि ॥२१०॥

जिस वास्तु (गृह) के चारों दिशा में शाला (ओसारा—बरामदा) व द्वार हो, उसे सर्वतोभद्र कहते हैं। ऐसा राजा व देवसमूहों के निवास के लिए गृह-निर्माण होना चाहिए। अर्थात् जिसकी विना अवरोध परिक्रमा हो सके।

सर्वतोभद्रचक्रम्



क, ख, ग, घ क्षेत्र के ऊपर चारों तरफ अलिन्द हो और अलिन्द के चारों भाग में शाला हो और चारों दिशा में चार घर हो, उसे सर्वतोभद्र कहते हैं। १ अंकों से चिह्नित क्षेत्र अलिन्द व शाला से शाला का बोध करें।

तथा च गर्गः —

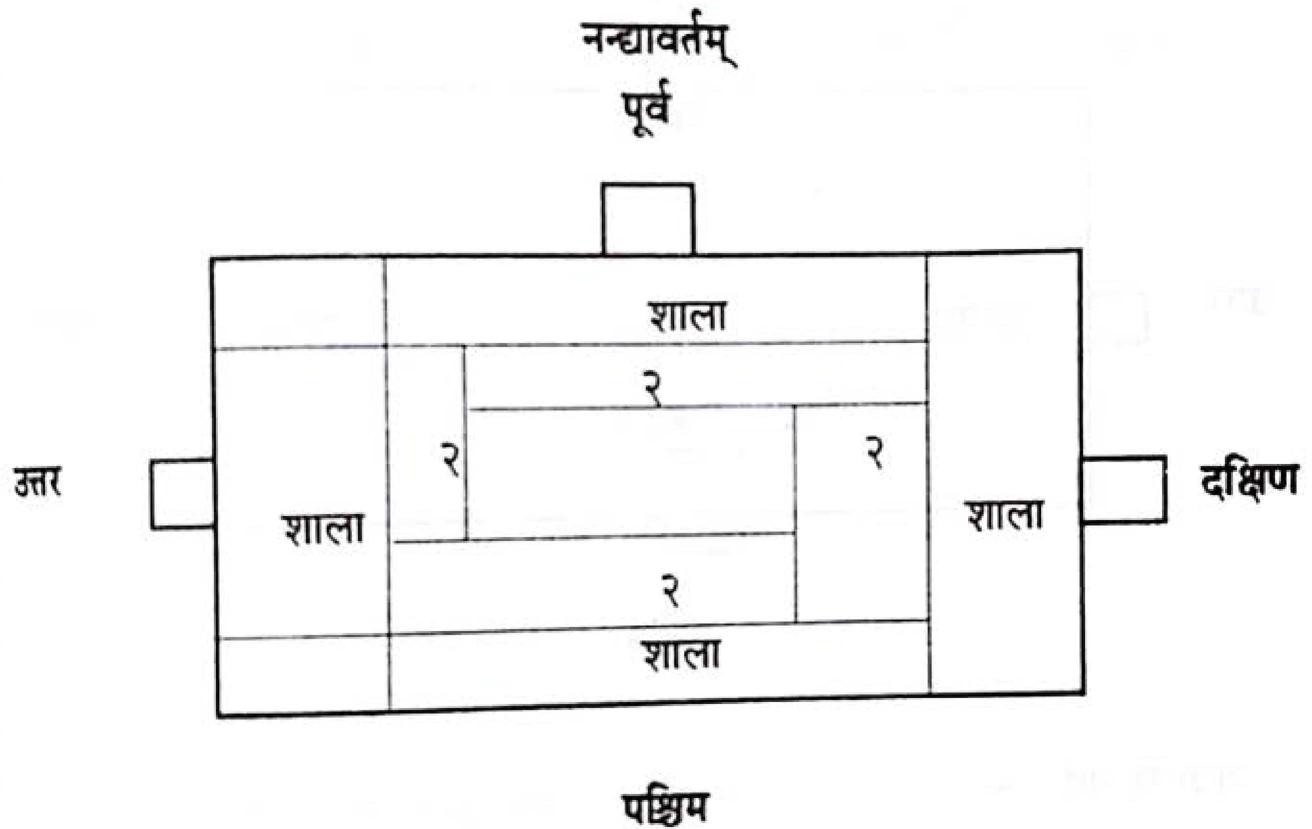
अलिन्दानां व्यवच्छेदो नास्ति यत्र समन्ततः ।

तद्वास्तु सर्वतोभद्रं चतुर्द्वारसमायुतम् ॥ इति ।

अथ नन्द्यावर्तस्य लक्षणमाह–

नन्द्यावर्तमलिन्दैः शालाकुड्यात् प्रदक्षिणान्तगतैः ।
द्वारं पश्चिममस्मिन् विहाय शेषाणि कार्याणि ॥२११॥

शाला की भित्ति से (प्रदक्षिणान्तगत अलिन्द) प्रारम्भ करके जिसके चारों दिशा में सावरोध अलिन्द (चलने-घूमने का मार्ग) हो, उसे नन्द्यावर्त कहते हैं । जिसके पश्चिम छोड़ शेष तीन दिशाओं में द्वार होता है ॥२११॥



[२ अङ्क से चिह्नित स्थान अलिन्द हैं ।]

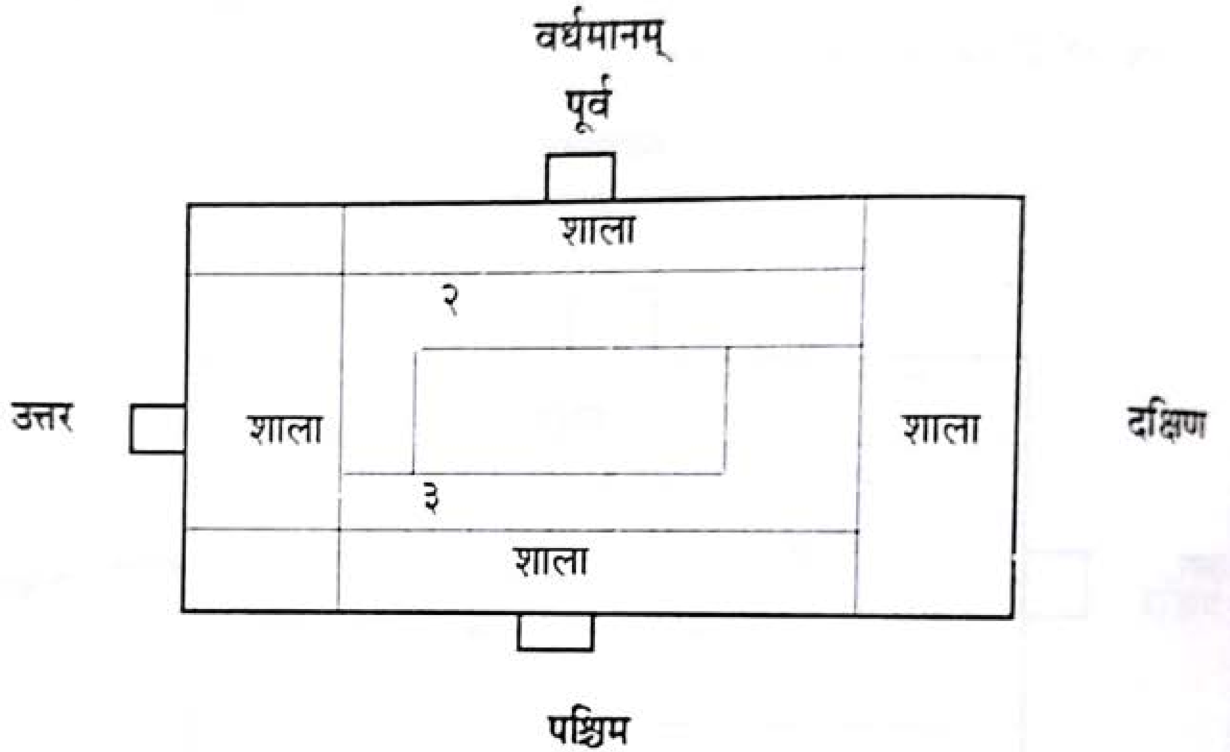
तथा च गर्गः –

प्रदक्षिणां गतैः सर्वैः शालाभित्तेरलिन्दकैः ।
विना परेण द्वारेण नन्द्यावर्तमिति स्मृतम् ॥ इति ॥

अथ वधमानस्य लक्षणमाह –

द्वारालिन्दोऽन्तगतः प्रदक्षिणोऽन्यः शुभस्ततश्चान्यः ।
तस्मिंश्च वर्धमाने द्वारं तु न दक्षिणं कार्यम् ॥२१२॥

प्रधान गृह के द्वार के सम्मुख जो अलिन्द है, उसे द्वारालिन्द कहते हैं। वह अन्तगत दक्षिणोत्तर शाला में संलग्न होना चाहिए। द्वितीय अलिन्द दक्षिण-पश्चिमोत्तर होगा। इस प्रकार के अलिन्दों से युक्त वर्धमान नाम का वास्तु होता है। इसमें दक्षिण द्वार नहीं होता है व २ ।३ अङ्क अलिन्दबोधक हैं ॥२१२ ॥



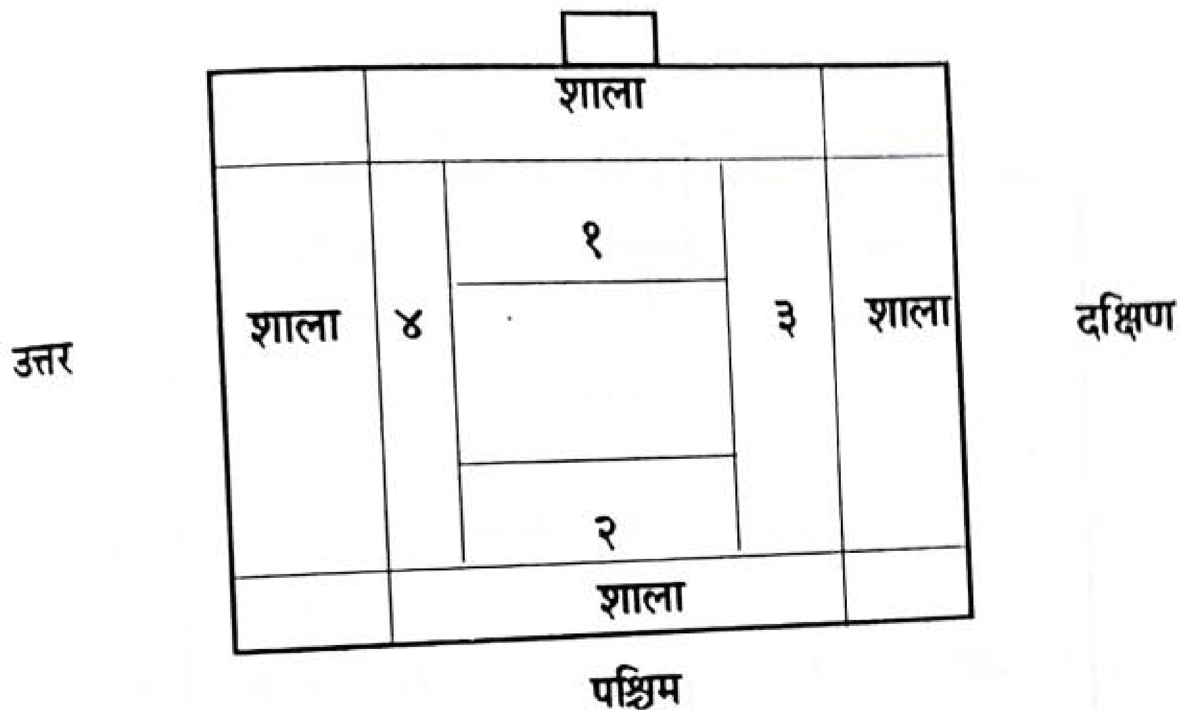
यथा च गर्ग : —

द्वारालिन्दोऽन्तगस्तेषां ये त्रयो दक्षिणां गताः ।
विहाय दक्षिणं द्वारं वर्धमानमिति स्मृतम् ॥ इति ॥

अथ स्वस्तिकलक्षणमाह —

अपरोऽन्तगतोऽलिन्दः प्रागन्तगतौ तदुत्थितौ चान्यौ ।
तदवधिविधृतश्चान्यः प्राग्द्वारं स्वस्तिके शुभदम् ॥२१३ ॥

पूर्व व पश्चिम में अन्तगत १, २ दक्षिणोत्तर और उत्तर-दक्षिण में पूर्व-पश्चिम शाला से संलग्न ३, ४ अंक से अंकित अलिन्द व पूर्व द्वार से युक्त स्वस्तिक नाम का वास्तु होगा ॥२१३ ॥



तथात्र गर्गः —

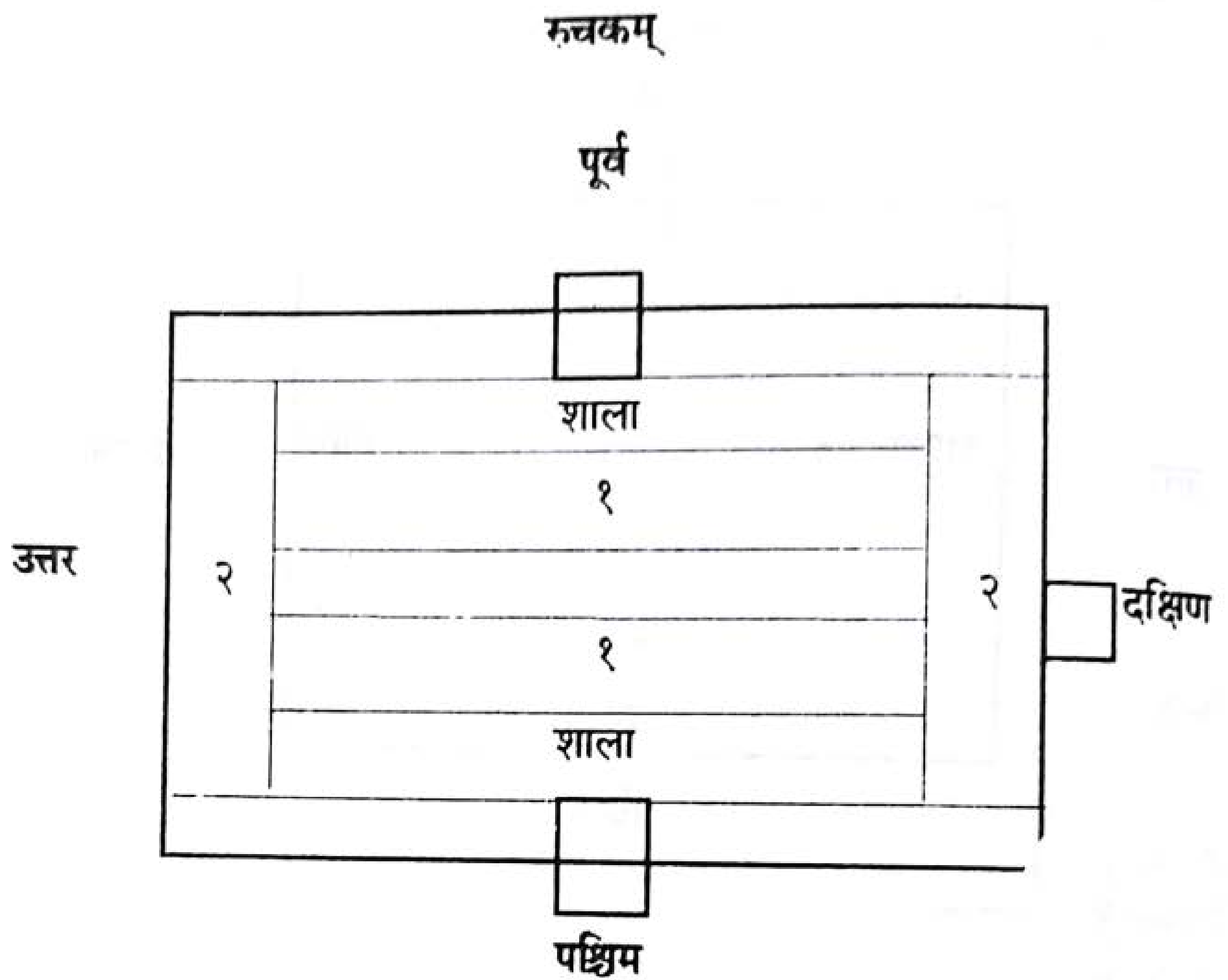
पश्चिमोऽन्तगतोऽलिन्दः प्रागन्तौ द्वौ तदुत्थितौ ।
अन्यस्तन्मध्यविधृतः प्राग्द्वारं स्वस्तिकं शुभम् ॥ इति ॥

अथ रुचकलक्षणमाह—

प्राक्पश्चिमावलिन्दावन्तगतौ तदवधिस्थितौ शेषौ ।
रुचके द्वारं न शुभदमुत्तरतोऽन्यानि शस्तानि ॥२१४॥

पूर्व व पश्चिम में दो (१, १) अलिन्द मध्यवर्ती होंगे, शेष दो (२, २)मध्य में पूर्व-पश्चिम के अलिन्दों से संयुक्त होंगे। उत्तर से भिन्न अन्य तीन दिशाओं में द्वार होगा ॥२१४॥

रुचकम्



तथात्र गर्गः—

प्राक्पश्चिमावलिन्दौ यावन्तगतौ वा परौ
सौम्यं द्वारं विना यत्स्याद् रुचकाख्यं तु तत्स्मृतम् ॥इति ॥

अथ तेषां पञ्चानां चतुःशालानां फलान्याह—

श्रेष्ठं नन्द्यावर्तं सर्वेषां वर्धमानसंज्ञं च ।
स्वस्तिकरुचके मध्ये शेषं शुभदं नृपादीनाम् ॥२१५ ॥

सभी वर्णों के लिए चतुःशाल, नन्द्यावर्त व वर्धमान वास्तु शुभ हैं। स्वस्तिक व रुचक मध्यम फलदायी हैं। शेष सर्वतोभद्र व चतुःशाल वास्तु राजा, मन्त्री, राज्यकर्मचारी व देवताओं के लिए शुभ हैं ॥२१५ ॥

अथ त्रिशालानां हिरण्यनाभसुक्षेत्रचुल्लीपक्षघ्नानां लक्षणमाह—

उत्तरशालाहीनं हिरण्यनाभं त्रिशालकं धन्यम् ।
प्राक्शालया वियुक्तं सुक्षेत्रं वृद्धिदं वास्तु ॥२१६॥
याम्याहीनं चुल्ली त्रिशालकं वित्तनाशकरमेतत् ।
पक्षघ्नमपरया वर्जितं सुतध्वंसवैरकरम् ॥२१७॥

उत्तरशाला रहित शेष तीन दिशाओं में शाला वाला गृह हिरण्य-संज्ञक है। यह धन्य व प्रशस्त है। एवं पूर्वशाला से विहीन शेष तीन दिशा की शाला से युक्त सुक्षेत्र नामक वास्तु, धन, सुत आदि लोक-सुखदायक है। दक्षिणशाला विहीन शेष तीन दिशाओं के एक शाला वाले गृह का नाम चुल्ली है, यह धन का नाशक है। पश्चिमशाला रहित त्रिशाल गृह पक्षघ्न कहलाता है, यह पुत्रहानि व वैर कराने वाला है ॥२१६-२१७॥

इन शाला-क्षेत्रों का निर्माण सुगम है; क्योंकि अलिन्दरहित चतुःशालाकृति ही एकादिक् शालाहीन त्रिशालान्त की आकृति में परिणत हो जायेगी।

तथा च किरणाख्ये तन्त्रे—

शस्तं हिरण्यनाभाख्यं हीनं चोत्तरशालया।
सुक्षेत्रं पूर्वतो हीनं शालया वृद्धिदं मतम्॥
चुल्ली दक्षिणया हीनं धनार्थप्राणनाशनम्।
यत् स्यादपरया हीनं पक्षघ्नं तत् सुतान्तकृत्॥

यथात्र ग्रन्थकारः —

चतुःशालाकृतिरलिन्द एकदिक्शालारहितः त्रिशालमित्युत्पलः।

अथ द्विशालानां सिद्धार्थयमशूर्पदण्डवाताख्यचुल्लीकानां लक्षणं सफलमाह—

सिद्धार्थमपरयाम्ये यमशूर्पं पश्चिमोत्तरे शाले ।
दण्डाख्यमुदक्पूर्वे वाताख्यं प्राग्युता याम्या ॥२१८॥
पूर्वापरे तु शाले गृहचुल्ली दक्षिणोत्तरे काचम् ।
सिद्धार्थेऽर्थावाप्तिर्यमशूर्पे गृहपतेर्मृत्युः ॥२१९॥

दण्डवधो दण्डाख्ये कलहोद्वेगः सदैव वाताख्ये ।
वित्तविनाशश्चुल्यां ज्ञातिविरोधः स्मृतः काचे ॥२२० ॥

दक्षिण-पश्चिम दो शाला का गृह सिद्धार्थ नाम का है, इसमें अर्थ की प्राप्ति होती है । पश्चिमोत्तर दो शाला का गृह यमशूर्प नाम का है, इसमें गृहस्वामी की मृत्यु होती है । उत्तर-पूर्व दो शाला का गृह दण्ड नाम का है, इसमें राजदण्ड व मृत्यु होती है । पूर्व व दक्षिण के द्विशाल गृह को वात कहते हैं, इसमें सर्वदा कलह व शोक तथा उद्विग्नचित्त रहता है ।

पूर्व-पर (पूर्व-पश्चिम) का द्विशाल गृह चुल्ली नाम से प्रसिद्ध है, इसमें धन का नाश होता है । दक्षिणोत्तर का द्विशाल गृह काच शब्द से प्रयुक्त होता है, इसमें बान्धवों से वैर होता है ॥२१८-२२० ॥

इदमेव किरणाख्ये तन्त्रे—

सिद्धार्थं तु भवेच्छुभ्रं याम्यापरयुतं यदि ।
पश्चिमोत्तरसंयुक्तं यमशूर्पं तु मृत्युदम् ॥
उदक्पूर्वयुतं यत् स्याद् दण्डाख्यं दण्डकारकम् ।
पूर्वयाम्ययुतं ज्ञेयं वाताख्यं कलहप्रियम् ॥
पूर्वापरयुतं गेहं चुल्लीनामार्थनाशकृत् ।
दक्षिणोत्तरशालाख्यं काचसंज्ञं विरोधकृत् ॥ इति ॥

एवमाचार्येण चतुःशाल-त्रिशाल-द्विशालानि पञ्चदशगृहाण्युक्तानि, ब्रह्म-शम्भुना तु बहवो गृहभेदा उक्ताः । यथा—

वेश्मनामेकशालानां भवेदष्टोत्तरं शतम् ।
द्विपञ्चाशद् द्विशालानां त्रिशालानां त्रिसप्ततिः ॥२२१ ॥

एकशाल गृह एक सौ आठ, द्विशाल गृह बावन एवं त्रिशाल गृह ७३ भेद के होते हैं ॥२२१ ॥

विश्वकर्मणा इतोऽप्यधिका बहवो गृहभेदा उक्ताः । ते वास्तुशास्त्रोक्तविधिना वेदितव्याः । इह गौरवभयात्पराधिकारचर्चा अनौचिता निरूपिता ।

विश्वकर्मा आदि गृहविधिज्ञ विद्वान् गृहों के अनेक भेद बताये हैं, जिनकी व्यवस्था वास्तुशास्त्र में प्रतिपादित है। प्रसङ्गातिरेक से प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है, तथापि कुछ भेदों का विवरण निम्न है।

यथाह राजमार्त्तण्डे—

आयतं चतुरस्त्रन्तु वृत्तं भद्रासनं तथा ।
चक्रं विषमबाहुः स्यात्त्रिकोणं शकटाकृतम् ॥२२२॥
दण्डं पणवसंस्थानं मुरजं च बृहन्मुखम् ।
व्यजनं कूर्मपृष्ठं च धनुः शूर्पञ्च षोडशम् ॥२२३॥

राजमार्त्तण्ड के अनुसार गृह की आकृति १. समायत, २. समचतुरस्र, ३. वृत्त, ४. भद्रासन, ५. चक्र, ६. विषमभुज, ७. त्रिकोण, ८. शकट (गाड़ी), ९. दण्ड, १०. पणव, ११. मुरज (वाद्य-विशेष), १२. बृहन्मुख, १३. व्यजन, १४. कूर्मपृष्ठ, १५. धनुष व १६. शूर्प, १६ प्रकार की होती है ॥२२२-२२३॥

उपरोक्त लक्षण के गृहों का फल—

आयते सिद्धयः सर्वाश्चतुरस्रे धनागमः ।
भद्रासने कृतार्थत्वं वृत्ते पुष्टिर्विवर्धनम् ॥२२४॥

आयत में सभी प्रकार की सिद्धि, चतुरस्र में धनागम, भद्रासन में कृतज्ञता (यश), वृत्त में सर्वसम्पन्नता (पुष्टि) होती है ॥२२४॥

चक्रे दारिद्र्यमेवोक्तं शोको विषमबाहुके ।
नृपाद्भीतिस्त्रिकोणे च शकटे च धनक्षयः ॥२२५॥

चक्र में दरिद्रता, विषमबाहु में शोक, त्रिकोण में नृपभय, शकट में धननाश होता है ॥२२५॥

नश्यन्ति पशवो दण्डे पणवे च धनक्षतिः ।
मुरजे म्रियते भार्या बन्धुनाशो बृहन्मुखे ॥२२६॥
व्यजने वित्तनाशश्च कूर्मे बन्धनपीडनम् ।
चापे चौरभयं विद्यात्शूर्पे वासे गवां क्षयः ॥२२७॥

दण्डाकृति गृह में पशुमृति, पणव में धनक्षय, मुरज में भार्या की मृत्यु, बृहन्मुख में बन्धुनाश, व्यजन में धननाश, कूर्म में बन्धन व भीति, शूर्प में पशु का नाश एवं चाप में चोरभय होता है ॥२२६-२२७ ॥

आयतं चतुरस्रन्तु वृत्तं भद्रासनं तथा ।
चत्वार्येतानि कार्याणि गृहस्थेन श्रियोऽर्थिना ॥२२८ ॥

सुख चाहने वाला गृहस्थ आयत, समचतुरस्र, वृत्त एवं भद्रासन, यह चार प्रकार का गृह बना सकता है ॥२२८ ॥

शालासम्बन्धिविचारः —

एका चेद् दक्षिणा शाला द्वे चेद् दक्षिणपश्चिमे ।
तावत्पूर्वां न कुर्वीत यावन्नोत्तरतो भवेत् ॥२२९ ॥

यदि एक शाला का गृह बनाना हो, तो दक्षिण शाला का होना चाहिए, दो शाला का गृह पश्चिम-दक्षिण या पूर्व-उत्तर का शुभ है। इस अर्थ का २२८ श्लोकार्थ से विरोध है; क्योंकि पूर्वोत्तर दोशाल-गृह उत्तम नहीं है।

अथ वशिष्ठसंहितायां दश शाला उक्तास्तासां च अलिन्दभेदेन प्रत्येकं षोडश भेदा भवन्ति, षष्ट्यधिकशतसमा भेदा इत्युक्तम्।

वशिष्ठसंहिता में दश शाला का विधान है, उसके अलिन्द-भेद से प्रत्येक में सोलह भेद होता है, इस प्रकार १६० भेद होते हैं ॥२२९ ॥

यथा चोक्तम्—

अलिन्दभेदैरेताः स्युः प्रत्येकं दशषड्विधाः ।
षष्ट्या तु सहितं शाला शतमेवं प्रकीर्तितम् ॥२३० ॥

पूर्व गद्यार्थ से ही स्पष्ट है ॥२३० ॥

एकद्वित्रिचतुःपञ्चषट्सप्ताष्टदशाह्वयाः ।
शालाः स्युर्दशभेदास्ताः संहिता नवशालया ॥२३१ ॥

एक से १० शाला तक का भवन होता है, जिसका विवरण पूर्व में दिया जा चुका है; किन्तु संहिता के अनुसार ९ शाला का गृह होता है ॥२३१ ॥

ध्रुवादिषोडशगृहज्ञानाय नारदोक्तप्रस्तारः —

गुरोरधो लघुः स्थाप्यः पुरस्तादूर्ध्ववन्यसेत् ।

गुरुभिः पश्चिमं पूर्वं यावत्सर्वलघुर्भवेत् ॥२३२ ॥

अत्र दिशाचतुष्टयत्वाच्चत्वार एव गुरवः स्थाप्याः। प्रथमं विदिक्षु द्वारानौचित्यान्न ग्रहणम्। तद्यथा—ध्रुवादि षोडश गृहनामानि, तेषां लघुगुरुभेदेन चिह्नितप्रस्तारे परिचयो ज्ञेयः।

ध्रुवं धान्यं जयं नन्दं खरं कान्तं मनोरमम् ।

सुवक्त्रं दुर्मुखं क्रूरं विपक्षं धनदं क्षयम् ॥

आक्रन्दं विपुलं चैव विजयं चेति षोडशम् ॥२३३ ॥

विशेषः —

लिखेदेकान्तरादाद्ये एकमेकं गुरुं लघुम्।

द्वयं द्वयं द्वितीये तु चतुरश्चतुरस्त्रिके ॥

अष्टावष्टौ चतुर्थेऽयं प्रस्तारः षोडशावधिः ॥

प्रकारान्तर से प्रथम पंक्ति में १ गुरु, १ लघु, दूसरी पंक्ति में दो गुरु और दो लघु, तीसरी पंक्ति में ४ गुरु, ४ लघु; चौथी पंक्ति में ८ गुरु और ८ लघु लिखने से प्रस्तार की १६ संख्या हो जायेगी।

दिशा	**पूर्व**	**दक्षिण**	**पश्चिम**	**उत्तर**
१ = ध्रुव =	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
२ = धान्य =	।	ऽ	ऽ	ऽ
३ = जय =	ऽ	।	ऽ	ऽ
४ = नन्द =	।	।	ऽ	ऽ
५ = खर =	ऽ	ऽ	।	ऽ

६ = कान्त =	।	ऽ	।	ऽ
७ = मनोरम =	ऽ	।	।	ऽ
८ = सुमुख =	।	।	।	ऽ
९ = दुर्मुख =	ऽ	ऽ	ऽ	।
१० = क्रूर =	।	ऽ	ऽ	।
११ = शत्रुपक्ष =	ऽ	।	ऽ	।
१२ = धनद =	।	।	ऽ	।
१३ = क्षय =	ऽ	ऽ	।	।
१४ = आनन्द =	।	ऽ	।	।
१५ = विपुल =	ऽ	।	।	।
१६ = विजय =	।	।	।	।

अथ गुरुलघुप्रस्तारविषये किमपि, यथोक्तं ग्रन्थकर्त्रा—अथैतेषामुद्धारोऽलिन्दप्रस्ताराक्षसंभिन्नः । स यथा तत्रोपर्याक्रमतो दिशः। पूर्वाद्या वेद्यास्तु सुगृहद्वारप्रादक्षिण्येन अलिन्दं विदध्यात्।

यह लघु-गुरु की कल्पना मात्र नारद जी का विचार है। अन्यथा विशेष रूप से द्वार अलिन्दादिकों के अधीन है और उसी के अनुसार द्वार शुभ होता है। द्वार के नाम से व्यय, इन्द्र, यम व राजा का अंश-ज्ञान होता है ॥२३३॥

स्यादलिन्दो लघुस्थाने नालिन्दं गुरुमाश्रितम् ।
प्रादक्षिण्यैर्गृहद्वारालिन्दैश्च दशषड्विधाः ॥२३४॥

उपर्युक्त २३३ श्लोकानुसार गुरु-लघु जनित प्रस्तार के अनुसार पूर्वादि प्रादक्षिण्य क्रम से अलिन्द व द्वार लघु स्थान में ही किया जाय, गुरु स्थान में कदापि नहीं। इस प्रकार द्वार व अलिन्द क्रम से सोलह प्रकार के गृह के नाम हैं ॥२३४॥

यथा—

ध्रुवं धान्यं जयं नन्दं खरं कान्तं मनोरमम् ।

सुवक्त्रं दुर्मुखं क्रूरं विपक्षं धनदं क्षयम् ॥२३५॥

आक्रन्दं विपुलं संज्ञं षोडशं विजयाभिधम ।

इत्येकशालभेदाः स्युः शेषाणामेवमेव हि ॥२३६॥

एकशाल ध्रुवादि-विजयान्त १६ प्रकार के मकान के नामों के अनुसार फल अग्रिम पंक्तियों में उद्धृत होगा ॥२३५-२३६॥

ध्रुवसंज्ञं गृहं त्वाद्यं धन-धान्यसुखप्रदम् ।

धान्यं धान्यप्रदं नृणां जयं स्याद्विजयप्रदम् ॥२३७॥

नन्दं स्त्रीहानिदं नूनं खरं सम्पत्तिनाशनम् ।

पुत्रपौत्रप्रदं कान्तं श्रीप्रदं स्यान्मनोरमम् ॥२३८॥

सुवक्त्रं भोगदं नूनं दुर्मुखं विमुखप्रदम् ।

धनदं धनदं गेहं क्षयं सर्वक्षयप्रदम् ॥२३९॥

आक्रन्दं शोकजनकं विपुलं श्रीयशःप्रदम् ।

विजयं नाम सदनं धनदं विजयप्रदम् ॥२४०॥

ध्रुवादि नाम के गृहों में उपर्युक्त फल स्पष्ट हैं ॥२३७-२४०॥

ध्रुवाख्यं द्वित्रिभूमाद्यं स्यादिदं चेद्धरातले ।

सुवर्णैः शिखरः सोऽपि प्रासादः[१] सर्वभूभुजाम् ॥२४१॥

भूमि पर दो व तीन भूमा (स्तर = महल) वाला सुवर्ण-शिखर का प्रासाद सुवर्ण-शिखर व ध्रुव नाम का प्रासाद होता है, वह सभी राजवृन्दों के लिए उत्तम होता है ॥२४१॥

सौधाख्यं[२] सदनं शश्वद्धनधान्यप्रदं सदा ।

प्रासादसदनं शश्वद्धर्मारोग्यसुखप्रदम् ॥२४२॥

१- प्रासाद = सुवर्णशिखर वाले मन्दिर को प्रासाद कहते हैं।

२- सौध = एक महल के पक्के मकान को सौध कहते हैं।

सौध शिखर का सदन सर्वदा धन-धान्य देता है और प्रासाद सदन धर्मवृद्धि-आरोग्य व सुखदायी होता है ॥२४२ ॥

पुरतो मण्डपं यस्य तदेव भुवनेश्वरम् ।

तद्गृहं विश्वरूपाख्यं सर्वसम्पत्प्रदं सदा ॥२४३ ॥

जिस सदन के सामने मण्डप हो, उसे भुवनेश्वर व विश्वरूप कहते हैं। यह ध्रुव नाम वाले गृह के भेद हैं। यह सर्वसम्पत्ति देता है ॥२४३ ॥

धनाख्यं सदनं द्वित्रिचतुःपञ्चादिभूमिकम् ।

भूतिचन्द्रं महीशानां सुतसम्पत्सुखप्रदम् ॥२४४ ॥

धान्य नामक भवन दो-तीन-चार व पाँच भूमि (स्तर-महल) का हो सकता है। इसे भूतिचन्द्र (द्वितीया का चन्द्र) कहते हैं। राजाओं के लिए सुत, सम्पत्ति व सुखदायी होता है ॥२४४ ॥

जयाख्यं नाम सदनं द्वितीयाद्यनुभूमिकम् ।

पूर्णचन्द्रं महद्गेहं भार्यानाशप्रदं सदा ॥२४५ ॥

जय नाम का गृह दो महल का हो सकता है, यह पूर्णचन्द्रनामक गृह स्त्री-सुख से वंचित कर देता है ॥२४५ ॥

खरगेहं यदा यत्र द्वितीयाद्यनुभूमिकम् ।

असुखं नाम सदनं दुःखशोकभयप्रदम् ॥२४६ ॥

खर नाम का गृह दो भूमि का बन सकता है; किन्तु उसका नाम असुख, दुःख, शोक व भयदायक होता है ॥२४६ ॥

प्रासादो वाथ सौधो वा कान्ताख्यं सदनं यदा ।

आनन्दसदनं नाम विज्ञानानन्ददं सदा ॥२४७ ॥

कान्त नामक छठें गृह—प्रासाद या सौध—को आनन्द कहते हैं। वह विवेक व आनन्ददायी होता है ॥२४७ ॥

प्रासादो वाथ सौधो वा सुवक्त्रसदनं यदा ।

हाटकं सदनं नाम सदा ह्याटकदं शुभम् ॥२४८ ॥

सुवक्त्र नामक सदन—प्रासाद या सौध—को हाटक सदन कहते हैं। वह सदा सुवर्णदायी होता है ॥२४८ ॥

प्रासादो वाथ सौधो वा दुर्मुखं सदनं यदि ।
दुर्मुखं सदनं नाम सर्वकार्यविनाशकम् ॥२४९ ॥

प्रासाद या सौध वाला दुर्मुख नाम का गृह सर्वदा कार्यनाशक होता है ॥२४९ ॥

प्रासादो वाथ सौधो वा क्रूराख्यं सदनं यदि ।
क्रूराख्यं सदनं नाम दुःखशोकप्रदं सदा ॥२५० ॥

क्रूर नामक गृह, प्रासाद या सौध सर्वदा दुःख, शोक देता है ॥२५० ॥

प्रासादो वाथ सौधो वा विपक्षसदनं यदि ।
विपक्षसदनं नाम सदा शत्रुभयप्रदम् ॥२५१ ॥

सौध या प्रासाद यदि विपक्ष नाम का गृह हो, तो सर्वदा शत्रुभयकारक होता है ॥२५१ ॥

प्रासादो वाथ सौधो वा धनदाख्यं गृहं भवेत् ।
धनदाख्यं गृहं नाम धन-धान्य-सुखप्रदम् ॥२५२ ॥

प्रासादो वाथ सौधो वा क्षयाख्यं सदनं यदा ।
क्षयं नाम गृहं तच्च सर्वदा क्षयकारकम् ॥२५३ ॥

प्रासादो वाथ सौधो वा ह्याक्रन्दं सदनं यदि ।
आक्रन्दं नाम तद्गेहं चौरभीतिप्रदं सदा ॥२५४ ॥

विपुलाख्यं गृहं यत्र सौध-प्रासाद एव वा ।
विपुलं नाम सदनं विपुलं धनधान्यदम् ॥२५५ ॥

विजयाख्यं यदा नूनं सौध-प्रासाद एव वा ।
विजयं नाम सदनं सर्वदा विजयप्रदम् ॥२५६ ॥

प्रासाद या सौध, धनद नाम का गृह सर्वदा धन-धान्य-सुखदायी, क्षय नामक सदन क्षयकारक, आक्रन्द गृह में चौरभय, विपुल गृह में प्रभूत धन-धान्य की वृद्धि व विजय नाम का गृह सर्वदा विजय देता है ॥ २५२-२५६ ॥

एकशालगृहं नूनं चतुर्द्वारसमन्वितम् ।

मनोरथप्रदं गेहं नाम्ना तद्विश्वतोमुखम् ॥२५७ ॥

चारों दिशाओं में मुख वाला एकशाल गृह मनोरथ देनेवाला है, जिसका नाम विश्वतोमुख है ॥२५७ ॥

तदेवान्यमुखैर्युक्तं कोणमध्ये च तद्गृहम् ।

पुण्डरीकं नाम तद्गेहं सर्वकामफलप्रदम् ॥२५८ ॥

वही एकशाल गृह कोणों के द्वार से युक्त हो, तो उसे पुण्डरीक कहते हैं। वह सभी कार्यों का साधक होता है ॥२५८ ॥

पश्चिमद्वारहीनं तद् गृहं श्रीनिलयाह्वयम् ।

श्रीप्रदं सर्वदा राज्ञां पुत्र-पौत्रप्रवर्द्धनम् ॥२५९ ॥

उदग्द्वारविहीनं तत्सूकराख्यपदाह्वयम् ।

सूकराद् भयदं नूनमथवा भूपतेर्भयम् ॥२६० ॥

पूर्वद्वारविहीनं तद् व्याघ्रस्य पदसंज्ञकम् ।

चतुष्पदाद्भयं गेहमथवा तस्कराद्भयम् ॥२६१ ॥

दक्षिणद्वारहीनन्तु गेहं शेखर-संज्ञकम् ।

सर्ववस्तुप्रदं तत्तु सर्वरत्नप्रदं सदा ॥२६२ ॥ इत्येकशालाभेदाः ।

पूर्वोक्त एकशाल गृह पश्चिम द्वार रहित शेष दिशाओं के द्वार वाला विजय नाम का है, यह सर्वदा पुत्र-पौत्रदायी होता है ।

उत्तर द्वार से हीन शेष तीन दिशाओं के द्वार वाला गृह सूकर नाम का है, इसमें सूकरों से भय अथवा राजभीति होती है ।

पूर्व द्वार से हीन शेष तीन दिग्द्वार व्याघ्रपद नाम का है, इसमें चतुष्पद व तस्करभय होता है। दक्षिण द्वार हीन शेष तीन दिशाओं के द्वार का गृह शेखर नाम का वास्तु है, वह सभी वस्तु व रत्नों का दायक है ॥२५९-२६२ ॥

अथ द्विशालभेदा उच्यन्ते—

याम्यपश्चिमयोर्नूनं द्विशाला कमलाकरा ।
नामतः सर्वदा नृणां श्रीप्रदा सर्वभोगदा ॥२६३॥
पश्चिमोत्तरयोः शाला श्वापदं नाम विश्रुतम् ।
शत्रुभ्यो भयदं शश्वदथवा चौरभीतिदम् ॥२६४॥
पूर्वदक्षिणयोर्नूनं द्विशाला सर्पदंष्ट्रिका ।
आधिव्याधिभयं शश्वद् व्यालचौरभयप्रदा ॥२६५॥

इस प्रकार एकशाला का भेद कहकर, द्विशाल गृह का भेद कहते हैं—

दक्षिण-पश्चिम की दो शाला के गृह का नाम कमलाकर है। यह लक्ष्मी के साथ सभी प्रकार के उपभोग की वस्तुओं को सुलभ कराता है ॥२६३॥

पश्चिम व उत्तर का द्विशाल गृह श्वापद नाम से प्रसिद्ध है, इसमें निरन्तर शत्रु व चोरभय होता रहता है ॥२६४॥

पूर्व व दक्षिण की शाला का गृह सर्पद्रंष्ट्रा नाम से सूचित है। इसमें आधि-व्याधि, सर्प व चोरभय होता है ॥२६५॥

प्रासादो वाथ सौधो वा तस्यामेव तु कारयेत् ।
अन्यदिक्षु द्विशालासु गृहे शोकं लभेन्नरः ॥२६६॥

द्विशाल गृह की जो दिशा शुभ कही गई है, उसी दिशा का द्विशाल गृह शुभ, अन्य दिशा का द्विशाल गृह शोक व भयप्रद है। इसलिए द्विशाल गृह को सर्वथा त्याग दे ॥२६६॥

"तस्माद्द्विशालं त्वत्र प्रयत्नात्परिवर्जयेत्"। इति स्पष्टम्।

त्रिशालचतुःशालगृहाणि वाराहेणोक्तानि; किन्तु विशेषः पुनरुच्यते। चतुःशालगृहस्य पञ्च भेदाः, अलिन्दवशेन द्वारवशेन च तेनोक्ताः। वशिष्ठेन तु द्वार मात्राभिप्रायेणोक्ताः । तस्मांदेवमवगम्यते यत् संज्ञाप्रयोजकं द्वारम्, अलिन्दं पुनः शोभातिशयाधायकमिति ।

यद्यपि त्रिशाल, चतुःशालादि गृहों के द्वार और अलिन्द भेद से पाँच भेद वाराह- मिहिर के मतानुसार हैं; किन्तु वशिष्ठ ने द्वाराभिप्राय से ही भेद का प्रतिपादन किया है। इसलिए द्वार-शब्द संज्ञाप्रयोजक और अलिन्द-शब्द शोभा-तिशयाधायक है, जो भेद-कारक नहीं है।

अन्ये पुनश्चतुःशालस्य भेदाश्चतुःशालामध्यभागे कुर्युः।

अन्य आचार्यों के अनुसार चतुःशाला का भेद चतुःशाल गृह की बनावट से व्यक्त होता है।यथा—

कुर्यात्पूर्वमुखं गेहं गृहराडिति विश्रुतम्।
सर्वसम्पत्प्रदं तत्स्याद् याम्यवक्त्रं कुबेरकम् ॥२६७॥

शश्वत्कुबेरगृहवदालयं सर्वसम्पदाम्।
अपि प्रत्यङ्मुखं चैव मन्दिरं पदमैन्द्रकम् ॥२६८॥

इन्द्रवेश्म यथा सद्म सर्वसम्पद्युतं तथा।
माहेन्द्रं तद्विजानीयात्सर्वैश्वर्यविभूषितम् ॥२६९॥

उदङ्मुखं तत्सदनं वारुण्यं पदसंज्ञकम्।
सर्वरत्नालयं गेहं सर्वभोगसुखावहम् ॥२७०॥

प्रासादो वाथ सौधो वा तद्गृहं वै भवेद्यदि।
शेखरं नाम तद्वास्तु निधीनामालयं भृशम् ॥२७१॥

चतुःशाल गृह में यदि पूर्व द्वार है, तो उसे गृहराड् (गृहराज) कहते हैं। वह सर्वसम्पत्प्रदाता होता है, उसी में दक्षिणमुख कुबेर-पद होता है, उसमें कुबेर-गृह की भाँति सर्वसम्पत्ति परिपूर्ण रहती है। पश्चिममुख गृह माहेन्द्र-पद कहलाता है, वह सम्पूर्ण ऐश्वर्य से विभूषित रहता है। उत्तर मुख गृह वारुण-पद से विख्यात है, वह सभी रत्नों से परिपूर्ण, सर्वदा सुखदायी होता है। उपर्युक्त वह गृह, प्रासाद या सौध ही शेखर नाम से प्रसिद्ध है, वह रत्नों (निधि) का आश्रय बना रहता है॥२६७-२७१॥

कोशादिप्रचुरं कुर्यान्माहेन्द्रपदसंज्ञकम् ।
माहेन्द्रनिलयं यद्वत् तद्वत्तस्यात्पदास्पदम् ॥२७२॥

अस्यामपि द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-षट्-सप्तभूमिकैः षोडशानि जातानि विजानीयाद् विस्तृतेः क्रमात् ।

महेन्द्र के गृह जैसी विभूति पूर्वोक्त माहेन्द्र गृह में भी रहती है, इसमें भी दो से सात भूमिका के भेद से ध्रुव-धान्य इत्यादि सोलह प्रकार के गृह होते हैं ॥२७२॥

स्पष्टोक्तिः —

पञ्चादिदशपर्यन्ता शालाप्येवं प्रकल्पयेत् ।
प्रासाद-मन्दिर-गृहफलैर्यो वास्तुकोविदः ॥२७३॥

वास्तुविदों के अनुसार—प्रासाद, मंदिर, गृह-फलों के भेद से पाँच से दश तक शाला की व्यवस्था हो सकती है ॥२७३॥

कार्यमुद्दिश्य गृहस्य दिक्स्थाननिर्णयो यथा **वशिष्ठः** —

पूर्वस्यां श्रीगृहं प्रोक्तमाग्नेय्यां स्यान्महानसम् ।
शयनं दक्षिणायान्तु नैर्ऋत्यां शस्त्रमन्दिरम् ॥२७४॥
भोजनं पश्चिमायान्तु वायव्यां धनसञ्चयम् ।
उत्तरे द्रव्यसंस्थानमैशान्यां देवमन्दिरम् ॥२७५॥

किरणाख्ये तन्त्रे वास्तुपुरुषस्य नामान्तराणि कथितानि, केचित्तद्वशात् प्रविभागमिच्छन्ति । तथा च तत्रैव नामान्तरवशात्कार्यनिर्देशः—

श्रीगृहेऽथ ध्वजः कार्यो धूम्रश्चैव महानसे ।
सिंहो निद्रागृहे कार्यः श्वा कुर्यादायुधाश्रये ॥
वृषो भोजनशालायां कपिर्धान्यगृहे सदा ।
द्रव्यस्थाने सदा भद्रो रिक्तो देवगृहे तथा ॥

अथैतेषामानयनम्—

गृहान्तरदिशामानं समगुण्यं परस्परम् ।
वसुभिर्भागमाहृत्य शिष्टं वास्तुनरं वदेत् ॥

दीर्घ-विस्तार के गुणनफल में आठ के भाग-शेष से क्रमशः वास्तुपुरुष के रिक्त-ध्वज-ध्वांक्ष-सिंह-श्वा-वृषभ-वानर-भद्र, ये आठ नाम होते हैं।

यथा—

रिक्तो ध्वजश्च ध्वांक्षश्च सिंहः श्वा वृषभस्तथा ।
वानरो भद्र इत्यष्टौ ज्ञेया वास्तुनरा बुधैः ॥

गृहे चाष्टावायाः, यथा—

ध्वजधूम्रहरिश्वाख्या वृषगर्दभकुञ्जराः ।
ध्वांक्षश्चैते क्रमादायाः स्वस्थानस्था गृहे शुभाः ॥२७६ ॥

मूल वचन के अनुसार ध्वजादि आठ आय पूर्वादि आठ दिशाओं के स्वामी होते हैं। अतः इनकी दिशा में जिस वस्तु सम्बन्धी गृह बनाने का प्राविधान है, उस वस्तु सम्बन्धी गृह में वही नाम और उसी आय की दिशा होनी चाहिए ॥२७६ ॥

श्लोक २७४-२७५ में कार्य के उद्देश्य से दिशापरक ८ गृहों के निर्माण के निर्देश हैं, तथापि आवश्यकतानुसार दो-दो गृहों के मध्य में अन्य गृहों के बनाने की भी व्यवस्था है। यथा—

इन्द्राग्न्योर्मथनं मध्ये याम्याग्न्योर्घृतमन्दिरम् ।
यमराक्षसयोर्मध्ये पुरीषत्यागमन्दिरम् ॥२७७ ॥
राक्षसाम्बुपयोर्मध्ये विद्याभ्यासस्य मन्दिरम् ।
तोयेशानिलयोर्मध्ये रोदनं मन्दिरं ततः ॥२७८ ॥
कामोपभोगसदनं वायुकौबेरमध्यतः ।
कौबेरेशानयोर्मध्ये चिकित्सामन्दिरं तथा ॥२७९ ॥

पुरन्दरेशयोर्मध्ये सर्ववस्तुषु सङ्ग्रहम् ।
सदनं कारयेदेवं क्रमात्प्रोक्तानि षोडश ॥२८० ॥

श्लोक २७४ से २८० तक श्लोकों का अर्थ निम्नलिखित चक्र से स्पष्ट है—

ईशान — **पूर्व** — अग्नि

देव	सर्ववस्तु-संग्रह	श्रीगृह	दधिमंथन	पाक-गृह
चिकित्सा				घृत
निधि				शयन
रति				पुरीष
धान्यसंग्रह	रोदन	भोजन-गृह	विद्याभ्यास	शस्त्र

उत्तर (बाएँ) — **दक्षिण** (दाएँ)

वायव्य — **पश्चिम** — नैऋत्य

नारदस्तु—

"भाण्डागारन्तूत्तरस्यां वायव्यां शुभमन्दिरम्"। इत्याह।

नारद जी के अनुसार पात्रसंचय-गृह उत्तर में व वायव्य में मांगलिक गृह होना चाहिए।

विश्वकर्मा पुनरुत्तरस्यामञ्जनस्थानं पूर्वस्यां श्रीगृहं तथेत्याह।

विश्वकर्मा के मतानुसार उत्तर में अञ्जन, पूर्व में श्रीगृह होना चाहिए।

गवाक्षविषये वशिष्ठः —

पश्चिमे दक्षिणे चैव गवाक्षो मन्दिरस्य च ।
स्वगृहात्पश्चिमे याम्ये पितृस्वाग्रजमन्दिरम् ॥२८१ ॥

गृह के पश्चिम-दक्षिण में गवाक्ष (जँगला) होना चाहिए। अपने से पूर्वजों व पिता (पितृतुल्य श्रेष्ठ जनों) का गृह अपने घर के दक्षिण व पश्चिम में होना चाहिए॥२८१ ॥

गृहोपरि गृहादीनामायमात्रं प्रकल्पयेत् ।
[१]सषड्वर्गं शंकुमपि स्थापयेदाद्यवेश्मनि ॥२८२ ॥

जिन दिशाओं में कार्यपरक जिन गृहों का निर्माण कहा गया है, उन गृहों के पास आवश्यकतानुसार जितने भी गृह बनवाना हो, उसमें मात्र आय का विचार किया जाना उचित है; किन्तु प्रथम (प्रधान) गृह में षड्वर्गशुद्धि के साथ शंकु भी स्थापित करना श्रेयस्कर है ॥२८२ ॥

ध्वजः सिंहपदे प्रोक्तः गजे चैते शुभा गवि ।
वृषो न पूजितोऽन्यत्र ध्वजः सर्वत्र पूजितः ॥२८३ ॥

सिंह के स्थान में ध्वज, ध्वज व सिंह दोनों गज के स्थान में और ध्वज, सिंह एवं गज ये तीनों वृष के स्थान में दिये जा सकते हैं; किन्तु वृष अपने ही स्थान में शुभ होता है, अन्यत्र नहीं और ध्वज सर्वत्र पूज्य है ॥२८३ ॥

जलस्थानविचारेऽत्र वराहः —

प्राच्यादिस्थे सलिले सुतहानिः शिखिभयं रिपुभयं च ।
स्त्रीकलहः स्त्रीदौष्ट्यं नैस्व्यं वित्तात्मजविवृद्धिः ॥२८४ ॥

वास्तु (गृहभूमि) के पूर्व में जल के स्थान से पुत्र की हानि, अग्निकोण में अग्निभय, दक्षिण में शत्रुभय, नैऋत्य में स्त्रीविवाद, पश्चिम में स्त्री की दुष्टता, वायव्य में निर्धनता, उत्तर में धनवृद्धि, ईशान में संतति की वृद्धि होती है ॥२८४ ॥

॥ इति सप्तमो भागः ॥



१. षड्वर्गश्चापि शंकु ..... इति पाठः साधुः ।

अथाष्टमो भागः

अत्रायं दिशानिर्देशो गृहद्वारस्य पूर्वत्वमाश्रित्य कृतः, तदुक्तं विश्वकर्मणा—

पूर्वादिदिग्विनिर्देश्या गृहद्वारविवक्षया ।
भास्करोदयदिक्पूर्वा न विज्ञेया यथार्थतः ॥२८५॥

यहाँ पर विश्वकर्मा के अनुसार गृह के द्वार के आश्रय से पूर्वादि दिशाओं की व्यवस्था समझे, सूर्योदय की पूर्व दिशा से तात्पर्य नहीं है। अर्थात् गृह का जो मुख्य द्वार होगा, उसी को पूर्व मानना चाहिए[१] ॥२८५॥

तत्रैव दिक्सम्बन्धिविचारः —

गृहात्प्रवासः पयसः पूर्वोत्तरगतिः शुभः ।
कथितो मुनिभिः पूर्वैरशुभस्त्वन्यदिग्गतः ॥२८६॥

प्राचीन मुनियों के अनुसार गृह से पूर्व व उत्तर जल का प्रवास (स्थान) शुभ है, अन्य दिशा में अशुभ है ॥२८६॥

वास्तुनि एकाशीति-पदविभाग-स्थल-ज्ञान-शुभाशुभनिर्णयोपयोगिपद्यं प्रदर्शयति वाराहसंहितायाम्—

एकाशीतिविभागे दश-दश पूर्वोत्तरायता रेखाः ।
अन्तस्त्रयोदश सुरा द्वात्रिंशद्बाह्यकोष्ठस्थाः ॥२८७॥

एकाशीति (८१) पद वास्तु विभाग के लिए १० रेखा पूर्वापर व १० रेखा दक्षिणोत्तर करने से ८१ कोष्ठ पद का वास्तु-चक्र होगा। इस क्षेत्र के अन्तर (मध्य) के १३ कोष्ठों में १३ और बाहर के ३२ कोष्ठों में ३२ देवताओं का स्थान होता है। इस प्रकार चक्र में ४५ स्थान देवताओं का होगा ॥२८७॥

देवताः —

शिखिपर्जन्यजयन्तेन्द्र-सूर्यसत्या भृशोऽन्तरिक्षश्च ।
ऐशान्यादिक्रमशो दक्षिणपूर्वेऽनिलः कोणे ॥२८८॥

पूषावितथबृहत्क्षतयमगन्धर्वाख्यभृङ्गराजमृगाः ।
पितृदौवारिकसुग्रीवकुसुमदन्ताम्बुपत्यसुराः ॥२८९॥

---

१. यदि इसे प्रमाण माना जाय, तो दिक्साधन-प्रक्रिया व्यर्थ हो जायेगी।

शोषोऽथ पापयक्ष्मा रोगः कोणे ततोऽहिमुख्यौ च ।
भल्लाटसोमभुजगास्ततोऽदितिर्दितिरिति क्रमशः ॥२९० ॥

आभ्यन्तरस्थितान् त्रयोदशदेवानाह—

मध्ये ब्रह्मा नवकोष्ठकाधिपोऽस्यार्यमा स्थितः प्राच्याम् ।
एकान्तरात् प्रदक्षिणमस्मात् सविता विवश्वांश्च ॥२९१ ॥
विबुधाधिपतिस्तस्मान्मित्रोऽन्यो राजयक्ष्मनामा च ।
पृथिवीधरापवत्सावित्येते ब्रह्मणः परिधौ ॥२९२ ॥
आपो नामैशाने कोणे हौताशने च सावित्रः ।
जय इति च नैऋते रुद्र आनिलेऽभ्यन्तरपदेषु ॥२९३ ॥

ईशानादि कोण से प्रारम्भ करके क्रमशः प्रत्येक कोष्ठों में शिख्यादि देवों की स्थापना करनी चाहिए। चक्र से स्पष्ट है ॥२८८-२९३ ॥

एकाशीति-पद- वास्तुचक्रम्

शिखी	पर्जन्यः	जयन्तः	इन्द्रः	सूर्यः	सत्यः	भृशः	अन्तरिक्षः	अनिलः
दितिः	आपः	जयन्तः	इन्द्रः	सूर्यः	सत्यः	भृशः	सावित्रः	पूषा
अदितिः	अदितिः	आपवत्सः	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	सविता	वितथः	वितथः
भुजगः	भुजगः	पृथ्वीधरः	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान्	बृहत्क्षतः	बृहत्क्षतः
सोमः	सोमः	पृथ्वीधरः	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान्	यमः	यमः
भल्लाटः	भल्लाटः	पृथ्वीधरः	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान्	गन्धर्वः	गन्धर्वः
मुख्यः	मुख्यः	राजयक्ष्मा	मित्रः	मित्रः	मित्रः	इन्द्रः	भृंगराजः	भृंगराजः
नागः	रुद्रः	शोषः	असुरः	वरुणः	कुसुमदन्तः	सुग्रीवः	जयः	मृगः
रोगः	पापयक्ष्मा	शोषः	असुरः	वरुणः	कुसुमदन्तः	सुग्रीवः	दौवारिकः	पितरः

अथात्र स्थितानां देवतानां पदसंख्याज्ञानम् —

आपस्तथापवत्सः पर्जन्योऽग्निर्दितिश्च वर्गोऽयम् ।
एवं कोणे कोणे पदिकाः स्युः पञ्च-पञ्च सुराः ॥२९४॥
बाह्या द्विपदाः शेषास्ते विबुधा विंशतिः समाख्याताः ।
शेषाश्चत्वारोऽन्ये त्रिपदा दिक्ष्वर्यमाद्यास्ते ॥२९५॥

उपर्युक्त एकाशीतिपद वास्तुपीठ में देवताओं के अलग-अलग वर्ग हैं, जैसा कि ईशान कोण में १. आप, २. आपवत्स, ३. पर्जन्य, ४. अग्नि, ५. दिति, इन पाँच देवताओं का एकपदीय वर्गसमूह है। एवं अग्निकोण में सविता, सावित्र, अनिल, अन्तरिक्ष, पूषा, नैऋत्य में विबुधाधिपति, दौवारिक, पिता, यम, मृग, वायव्य कोण में राजयक्ष्मा, रुद्र, पापयक्ष्मा, रोग, नाग (अहि) पाँच-पाँच देवता चारों कोणों में एकपदीय हैं। शेष बाह्य कोष्ठों में एक-एक देवता दो-दो पदों के अधिकारी हैं, इनकी संख्या २० बीस है। जैसे—पूर्व के पाँच कोष्ठों में जयन्त, इन्द्र, सूर्य, सत्य, भृश, दक्षिण में वितथ, बृहत्क्षत, यम, गन्धर्व, भृंगराज, पश्चिम में सुग्रीव, पुष्पदन्त, वरुण, असुर, शोष, उत्तर में मुख्य, भल्लाट, सोम, भुजग, अदिति, ये बीस देवता ४० कोष्ठों के अधिकारी हैं। ये द्विपदीय कहे जाते हैं। इनसे शेष चार— अर्यमा, विवश्वान्, मित्र, पृथ्वीधर, ये ब्रह्मस्थान के समीप तीन-तीन स्थानों के अधिकारी हैं। इन्हें त्रिपदाधिकारी (त्रिपदीय) कहते हैं॥२९४-२९५॥

वास्तुक्षेत्रस्य बाह्यस्था देवा यथा—

ईशानादिषु कोणेषु राक्षस्यो याः समाश्रिताः ।
चरकी च विदारी च पूतना पापराक्षसी ॥२९६॥
वास्तोर्बाह्ये चरक्याद्याः शंकुस्थाः पदवर्जिताः ।
स्कन्दो यमश्च जम्भश्च पिलिपिच्छो ग्रहा इमे ॥२९७॥
वास्तोर्बाह्ये क्रमाद्दिक्षु कथिताः पदवर्जिताः ।
एवं देवास्त्रिपञ्चाशद्वास्तौ मण्डूकसंज्ञके ॥२९८॥

मण्डूकवद् विराजमान वास्तुक्षेत्र के बाहर ईशानादि कोणों में क्रम से चरकी, विदारी, पूतना व पापराक्षसी निवास करती हैं और दिशाओं में क्रमशः पूर्व में स्कन्ध, दक्षिण में यम, पश्चिम में जम्भ, उत्तर में पिलिपिच्छ, ये चार देवता रहते हैं। पूर्व श्लोक २९४ तक ४५ और चक्र के बाहर चरक्यादि आठ, कुल ५३ देवताओं का निवासस्थान निर्दिष्ट है ॥२९६-२९८॥

अथात्र वास्तुपुरुषस्याङ्गविभागेन देवानाह वराहः—

पूर्वोत्तरदिङ्मूर्धा पुरुषोऽयमवाङ्मुखोऽस्य शिरसि शिखी ।
आपो मुखे स्तनेऽस्यार्यमा ह्युरस्यापवत्सश्च ॥२९९॥
पर्जन्याद्या बाह्या दृक्श्रवणोरःस्थलांशगा देवाः ।
सत्याद्याः पञ्चभुजे हस्ते सविता च सावित्रः ॥३००॥
वितथो बृहत्क्षतयुतः पार्श्वे जठरे स्थितो विवस्वांश्च ।
ऊरु-जानु च जङ्घे स्फिगिति यमाद्यैः परिगृहीताः ॥३०१॥
एते दक्षिणपार्श्वस्थानेष्वेवं च वामपार्श्वस्थाः ।
मेढ्रे शक्रजयन्तौ हृदये ब्रह्मा पिताऽङ्घ्रिगतः ॥३०२॥

वास्तु-पुरुष के अङ्गविभाग व उन अंगों पर निवास करने वाले वास्तु सम्बन्धी देवताओं का विवरण निम्न है— इस वास्तु-पुरुष का शिर ईशान कोण में अधोमुख (नीचे मुख करके) स्थित है। शिर पर शिखी, मुख पर आप, स्तन पर अर्यमा, वक्षस्थल पर आपवत्स, नेत्र पर पर्जन्य, कान पर जयन्त, उरःस्थल पर इन्द्र, स्कन्ध पर सूर्य, भुज पर सत्य, भृश, अन्तरिक्ष, वायु, पूषा, हाथ पर सविता व सावित्र, पार्श्व में वितथ व बृहत्क्षत, उदर पर विवस्वान् (आदित्य), उरु पर यम, जानु पर गन्धर्व, जङ्घा पर भुजगराज, स्फिग् पर मृग, ये देव दक्षिण पार्श्व पर निवास करते हैं।

इसी प्रकार वाम स्तन पर पृथ्वीधर, वाम नेत्र पर दिति, वाम कर्ण पर अदिति, वाम उरःस्थल पर भुजग, वाम स्कन्ध पर सोम, वाम भुज पर भल्लाट, मुख्य, अहि, रोग, पापयक्ष्मा, वाम हाथ पर रुद्र-राजयक्ष्मा-शोष-असुर, वाम पार्श्व में, ऊरु पर वरुण, जानु पर पुष्पदन्त, वाम जंघे पर सुग्रीव, स्फिग् पर दौवारिक, मेढ्र (लिङ्ग) पर

शक्र, जयन्त, हृदय पर ब्रह्मा, चरण पर पिता (पितृदेव) । एवमेव एकाशीतिपदवास्तु नगर, ग्राम व गृह में वास्तु-पुरुष का अंग-विभाग हुआ है ॥२९९-३०२ ॥

अथ चतुष्षष्टिपदस्य वास्तुनरस्य विभागवर्णनमाह —

अष्टाष्टकपदमथवा कृत्वा रेखाश्च कोणगास्तिर्यक् ।
ब्रह्मा चतुष्पदोऽस्मिन्नर्धपदा ब्रह्मकोणस्थाः ॥३०३ ॥
अष्टौ च बहिष्कोणेष्वर्धपदास्तदुभयस्थिताः सार्धाः ।
उक्तेभ्यो ये शेषास्ते द्विपदा विंशतिस्ते हि ॥३०४ ॥

चौंसठ वास्तु-पद-कोष्ठक के लिए नव पूर्वापर व नव दक्षिणोत्तर रेखा करनी चाहिए और चारों कोणों से चार रेखा ब्रह्म पद तक करने से प्रत्येक कोण के तीन-तीन कोष्ठ कर्ण रेखा से विभक्त हो जायेंगे।

इस चौंसठ-पद-वास्तु के मध्यस्थ चार कोष्ठकों में ब्रह्मा, ब्रह्मस्थान के बहिः विभक्त चारों कोणों के अर्धकोष्ठकों में क्रमशः ईशान कोण से १-आप, २-आपवत्स, ३-सविता, ४-सावित्र, ५-इन्द्र, ६-जयन्त, ७-राजयक्ष्मा ८-रुद्र, ये आठ अर्ध-पद देवता हैं। बाहर के दो भागों में विभक्त कोष्ठार्धों में क्रमशः १-शिखी, २-अन्तरिक्ष, ३-अनिल, ४-भृश, ५-पितृ, ६-पापयक्ष्मा, ७-रोग, ८-दिति, ये आठ देव अर्धपद हैं। कोणार्ध में स्थित शिख्यादि देवों के दोनों पार्श्वों में १-पर्जन्य, २-भृश, ३-पूषा, ४-भृंगराज, ५-दैवारिक, ६-शोष, ७-नाग, ८-अदिति, कोण व कोणार्ध मिलकर सार्धपदिक (डेढ़) आठ देवता हैं।

शेष बीस—१-जयन्त, २-इन्द्र, ३-सूर्य, ४-सत्य, ५-वितथ, ६-बृहत्क्षत, ७-यम, ८-गन्धर्व, ९-सुग्रीव, १०-पुष्पदन्त, ११-वरुण, १२-असुर, १३-मुख्य, १४-भल्लाट, १५-सोम, १६-भुजङ्ग १७-अर्यमा, १८-विवस्वान्, १९-मित्र, २०-पृथ्वीधर, ये द्विपद देवता हैं। इनके दो-दो स्थान हैं। पद चौसठ-पद-वास्तु-चक्र से स्पष्ट हैं ॥३०३-३०४ ॥

चतुःषष्टिपदवास्तुचक्रम्

पूर्व

शिखी / दितिः	पर्जन्यः	जयन्तः	इन्द्रः	सूर्यः	सत्यः	भृशः	अन्तरिक्षः / अनिलः
अदितिः	पर्जन्यः / अदितिः	जयन्तः	इन्द्रः	सूर्यः	सत्यः	भृशः / पूषा	पूषा
भुजगः	भुजगः	आपवत्सः / आपः	अर्यमा	अर्यमा	सविता / सावित्रः	वितथः	वितथः
सोमः	सोमः	पृथ्वीधर	ब्रह्म	ब्रह्म	विवस्वान्	बृहत्क्षतः	बृहत्क्षतः
भल्लाटः	भल्लाटः	पृथ्वीधरः	ब्रह्म	ब्रह्म	विवस्वान्	यमः	यमः
मुख्यः	मुख्यः	रुद्रः / राजयक्ष्मा	मित्रः	मित्रः	इन्द्रः / जयन्तः	गन्धर्वः	गन्धर्वः
नागः	नागः / शोषः	असुरः	वरुणः	कुसुमदन्तः	सुग्रीवः	भृंगराजः / दौवारिकः	भृंगराजः
रोगः / पापयक्ष्मा	शोषः	असुरः	वरुणः	कुसुमदन्तः	सुग्रीवः	दौवारिकः	मृगः / पितरः

उत्तर — दक्षिण

पश्चिम

वसिष्ठादयस्तु इदं वास्तुनरमिच्छन्ति । अनेन हि कोणस्थं द्वारं सुखेन ज्ञायते निःसन्दिग्धमिति ।

वसिष्ठादि ऋषि वास्तु को नररूप मानते हैं । इस चौसठ-पद-वास्तु से कोणों के द्वार का ज्ञान भी स्पष्ट हो जायेगा कि, द्वार किस देव के स्थान पर है और उसका क्या फल है ।

अथ वास्तुनरस्य मर्मज्ञानं यथा—

सम्पाता वंशानां मध्यानि समानि यानि च पदानाम् ।
तानि मर्माणि विद्यात्र तानि परिपीडयेत् प्राज्ञः ॥३०५ ॥

वास्तु पीठ में ईशान से नैऋत्य व वायव्य से अग्निकोण तक कर्णाकार विस्तृत सूत्रों का सम्पात जिस पूर्वापर रेखा व कोष्ठ से होता है, वह रेखा, सम्पात स्थान व कोष्ठ-सम्पात स्थान सभी वास्तु-पुरुष के मर्म स्थान हैं । बुद्धिमान् इन मर्म स्थानों को उत्पीड़ित न करे; क्योंकि वास्तु-पुरुष का जो मर्माङ्ग पीड़ित होगा, गृह-स्वामी का भी वही मर्माङ्ग पीड़ित होगा । वास्तु पद विभक्त चक्र से मर्मस्थान का ज्ञान स्पष्ट कर लेना चाहिए ॥३०५ ॥

वास्तुविद्यायां मर्मस्थानानि—

रोगाद्वायुं नयेत् सूत्रं पितृतोऽथ हुताशनम् ।
एतत्सूत्रद्वयं प्रोक्तं मुनिभिर्वंशसंज्ञितम् ॥३०६ ॥

तथाह —

तान्यशुचिभाण्डकीलस्तम्भाद्यैः पीडितानि ।
शल्यैश्च गृहभर्तुस्तत्तुल्ये पीडामङ्गे प्रयच्छन्ति ॥३०७ ॥

पूर्व श्लोक में वर्णित वास्तु नर के मर्म का अङ्ग यदि अपवित्र पात्र, उपस्करण, कील-स्तम्भ, पाषाण, शल्य आदि दूषित वस्तुओं से उत्पीड़ित होता है, तो गृहस्वामी का भी वही अंग पीड़ित होगा ॥३०६-३०७ ॥

अधुना शल्यज्ञानं यथा —

कण्डूयते यदङ्गं गृहभर्तुर्यत्र वाऽमराहुत्याम् ।
अशुभं भवेन्निमित्तं विकृते वाग्नेः सशल्यं तत् ॥३०८ ॥

गृहभूमि के शुभाशुभ प्रश्न के समय गृहस्वामी जिस अंग को खुजलाता है, वास्तु नर का वही अंग सशल्य है। अर्थात् वास्तु नर के उसी अंग में शल्य है, अथवा जिस वास्तु देवता (शिख्यादि) के आहुति के समय दुर्निमित्त हो, तो उसी देवता का स्थान सशल्य (दूषित) है, अर्थात् उसी स्थान में हड्डी आदि दूषित पदार्थ है। छींकना, थूकना (ष्ठीवन), रोना, आक्रोश, क्रोध, दुर्वचन (अपशब्दश्रवण), अग्निविकृति, सशब्द विस्फुलिंग, अग्नि से दुर्गन्धादि निकलना व प्रकृति-विकृति आदि दुर्निमित्त हैं ॥३०८॥

उपर्युक्तशल्यविभागानुसारं फलम् —

धनहानिर्दारुमये पशुपीडा रुग्भयानि चास्थिकृते ।
अपि नागदन्तको मर्मसंस्थितो दोषकृद्भवति ॥३०९॥

यदि वास्तु-पुरुष का मर्मस्थल काष्ठ रूप शल्य से दूषित है, तो धन की हानि, यदि हड्डी से दूषित है, तो पशुपीड़ा व रोगभय, [१]हाथी का दाँत शुभ होते हुए भी मर्मस्थ होने पर अनिष्टकारी होता है ॥३०९॥

मर्मस्थ इत्युक्तेऽन्यत्र शल्यं तुच्छफलमित्यादि विवेचितम्, मर्मस्थानं च दर्शयितु-माह—

रोगाद्वायुं पितृतो हुताशनं शोषसूत्रमपि वितथात् ।
मुख्याद्भृशं जयन्ताच्च भृङ्गमदितेश्च सुग्रीवम् ॥३१०॥
तत्सम्पाता नव ये तान्यतिमर्माणि सम्प्रदिष्टानि ।
यश्च पदस्याष्टांशस्तत्प्रोक्तं मर्मपरिमाणम् ॥३११॥

इस श्लोक का अर्थ पूर्व ३०४ श्लोक में प्रदर्शित है, तब भी कुछ विशिष्ट अर्थ का उल्लेख किया जा रहा है —

"उपरि निर्दिष्टसूत्रत्रयाणां परस्परं सम्पातानि नव स्थानानि मर्मस्थानानि" इत्यादि सर्वं भाषायां प्रतिपादितमिति। एकाशीतिपदेषु एकपदस्याष्टांशस्तथा चतुःषष्टिपदे चतुःषष्टितमभागस्याष्टमांशो भागो मर्मस्थानमिति।

---

१. कील को भी 'नागदन्त' कहते हैं।

रोग स्थान से वायु तक, पितृ स्थान से शिखी तक, वितथ से शोष, मुख्य से भृश, जयन्त से भृङ्गराज, अदिति से सुग्रीव तक विस्तृत (प्रसारित) सूत्रों के जो नव स्थानों में सम्पात (स्पर्श) है, वे वास्तु नर के अति-मर्मस्थान हैं। ये नव स्थान मध्य कोष्ठ के ब्रह्म स्थान में ही होते हैं। अतः प्राचीन परम्परानुगत आँगन-अजिर गृह के मध्य भाग में होना चाहिए। जो किसी प्रकार के उपोद्घात से रहित हो। पद का जो अष्टमांश है, वह मर्म का परिमाण है, जो पहले कहा जा चुका है, जैसा कि एकाशीति-पद-विभक्त एक पद व चौसठ पद में चौसठवें भाग का जो प्रमाण होगा, उसका अष्टमांश मर्म-परिमाण है ॥३१०-३११॥

अथ वंशस्य शिरायाश्च परिमाणमाह—

पदहस्तसंख्यया सम्मितानि वंशोऽङ्गुलानि विस्तीर्णः।
वंशव्यासोऽध्यर्धः शिराप्रमाणं विनिर्दिष्टम् ॥३१२॥

रोगाद्वायुमित्यादिसूत्रषट्कं वंशशब्देनोच्यते। शिराशब्देन पूर्वापरायता दक्षिणोत्तरायताश्च दश-दश रेखाः ज्ञेयाः।

रोग स्थान से वायु के स्थान तक विस्तृत इत्यादि छः सूत्रों को वंश कहते हैं। इनके विस्तार (एक) पद विभाग की जो हाथ संख्या होगी, उतने अंगुल वंश (सूत्र) का विस्तार होगा। ८१ या ६४ विभाग करने वाली पूर्वापरायत व दक्षिणोत्तरायत जो १०-१० रेखाएँ हैं, उन्हें शिरा कहा जाता है। वंश के विस्तार का अध्यर्ध प्रमाण शिरा-प्रमाण निर्दिष्ट है ॥३१२॥

ताश्च शिरा वा रेखाः (शास्त्रान्तरे प्रदिष्टाः) पठ्यन्ते **विश्वकर्मप्रकाशे** —

शान्ता यशोवती कान्ता विशाला प्राणवाहिनी।
सती च सुमना नन्दा सुभद्रा सुरथा तथा ॥३१३॥
पूर्वापरायता ह्येता उदग्याम्याश्रिता शृणु।
हिरण्या सुव्रता लक्ष्मीर्विभूतिर्विमला प्रिया ॥३१४॥
जया[१] काली विशोका च तथेन्द्रा दशमी स्मृता।
एकाशीतिपदे ह्येताः शिराश्च परिकीर्तिताः ॥३१५॥

१. ज्वालापि पाठः।

श्रिया यशोवती कान्ता सुप्रियाऽपि परा शिवा ।
सुशोभा सन्धिनी ज्ञेया तथेभा नवमी स्मृता ॥३१६॥
पूर्वापरायता ह्येतश्चतुःषष्टिपदे स्थिताः ।
धान्या धरा विशाला च स्थिरा रूपा गदा निशा ॥
विभवा प्रभवा चान्या सौम्ययाम्याश्रिताः शिराः ॥३१७॥

स्पष्टार्थः ॥३१३-३१७॥

वराहः—

सुखमिच्छन् ब्रह्माणं यत्नाद्रक्षेद् गृही गृहान्तःस्थम् ।
उच्छिष्टाद्युपघाताद् गृहपतिरुपतप्यते तस्मिन् ॥३१८॥

गृह-सुख की इच्छा से वास्तु (गृह) के मध्य में जो ब्रह्मा का स्थान है, उसकी सावधानी से सर्वविध रक्षा करें। (उच्छिष्ट, अमेध्य आदि वस्तुओं की स्थापना व अन्य वस्तु से उपोद्घात नहीं होना चाहिए) अन्यथा ब्रह्म स्थान के उपोद्घात से गृही अनुतप्त हो जाता है ॥३१८॥

अथ विकले वास्तुनि दोषमाह —

दक्षिणभुजेन हीने वास्तुनरेऽर्थक्षयोऽङ्गनादोषाः ।
वामेऽर्थधान्यहानिः शिरसि गुणैर्हीयते सर्वैः ॥३१९॥
स्त्रीदोषाः सुतमरणं प्रेष्यत्वं चापि चरणवैकल्ये ।
अविकलपुरुषे वसतां मानार्थयुतानि सौख्यानि ॥३२०॥

गृहार्थ निर्णीत भूमि सीमा में कल्पित वास्तु-पुरुष के अंग-विभागों के अनुसार दक्षिण भुज से हीन होने पर अर्थक्षय व स्त्री दोष उत्पन्न होता है। वाम भुज से हीन गृह में अर्थ व धान्य की हानि होती है। वास्तु नर के शिर से हीन गृह में गृही आरोग्य-धन-धान्य-सुख-समृद्धि आदि सभी शुभ गुणों से हीन होता है। वास्तु नर के पाद (चरण) भाग से हीन होने पर स्त्री-दोष, सुत-मरण और दीनता-दासता आती है और अविकल वास्तु नर के

सर्वाङ्ग-पूर्ण होने पर सम्मान, अर्थ से परिपूर्ण सुखादि की समृद्धि होती हैं ॥३१९-३२० ॥

न केवलं बास्तुनरस्यायं विभागः; अपि तु नगरग्रामेष्वप्येवमेवेत्याह—

गृहनगरग्रामेषु च सर्वत्रैवं प्रतिष्ठिता देवाः ।
तेषु च यथानुरूपं वर्णा विप्रादयो वास्याः ॥३२१ ॥

वास्तु (गृह) की ही भाँति नगर, पुर व ग्रामों में भी सर्वत्र पदक्रम से देवताओं के निवास की कल्पना करके मर्म स्थान का निश्चय करें, उसे उपोद्घात से मुक्त रखें, अन्यथा सर्वत्र ग्रामादि में भी अशान्ति, दुर्भिक्षादि दोष रहेंगे। और ब्राह्मणादिकों को वर्णानुक्रम से निश्चित अपने-अपने स्थानों में निवास करना चाहिए, जैसे—ग्राम की जिस दिशा में जिसे वसना चाहिए, उसी दिशा में उसे वसना श्रेयस्कर होता है ॥३२१ ॥

॥ इत्यष्टमो भागः ॥



अथ नवमो भागः

वर्णानुक्रमेण वासदिशानिरूपणम्—

वासगृहाणि च विन्द्याद्विप्रादीनामुदग्दिगाद्यानि ।
विशतां यथा भवनं भवन्ति तान्येव दक्षिणतः ॥३२२॥

चतुःशाल गृह ग्राम या नगर में उत्तर दिशा में ब्राह्मणों का, क्षत्रियों का पूर्व, वैश्यों का दक्षिण, शूद्रों का पश्चिम दिशा में होना चाहिए। घर (वास्तु) में निवास गृह भी वैसा ही होना चाहिए जैसा कि आँगन प्रवेश के समय दक्षिण दिशा में हो। अर्थात् पूर्वाभिमुख गृह का आँगन में उत्तराभिमुख द्वार, दक्षिणाभिमुख गृह का पूर्वाभिमुख, पश्चिमाभिमुख गृह का दक्षिणाभिमुख, उत्तराभिमुख गृह का पश्चिमाभिमुख गृह में निवास होना चाहिए। इसी प्रकार नगर व ग्राम में उपर्युक्त-विधि से निर्मित गृह में गृहस्वामी अपना निवास वनावें; क्योंकि वही दिशा नगर में भी होगी। दक्षिण व वाम भाग मुख्यद्वार के अनुसार अपने निवास गृह के द्वार की रचना करनी चाहिए ॥३२२॥

अथ मुख्यद्वारनिर्णयमाह —

नवभागं गृहं कृत्वा पञ्चभागं तु दक्षिणे ।
त्रिभागं वामतः कृत्वा शेषे द्वारं प्रकल्पयेत् ॥३२३॥

जिस दिशा में मुख्य द्वार करना हो, उसी दिशाभिमुख स्थित पुरुष की भाँति गृह का शरीर मानकर उस दिशा के विस्तार या दीर्घ हाथ का नव विभाग कर पुरुषाकृति स्थित उस गृह के दक्षिण भाग में पाँच, वाम भाग में तीन छोड़कर शेष एक भाग में द्वार करना चाहिए ॥३२३॥

यथोक्तं राजमार्त्तण्डे —

दक्षिणाङ्गः स वै प्रोक्तो मन्दिरान्निःसृते सति।
यो भूयाद्दक्षिणे भागे वामे भूयात्स वामकः॥

विश्वकर्माऽप्याह —

देवागारे विहारे[१] च पूजायां मण्डपेषु च ।
प्रतोल्यायां मखे चैव मध्ये द्वारं निवेशयेत् ॥३२४॥

देव गृह, विहार (जनसमूह-निवास), पूजन-गृह, मण्डप (यज्ञमण्डप), प्रतोली और यज्ञ-भवन का द्वार मध्य भाग में होना चाहिए ॥३२४॥

"एषु देवागारादिषु गृहेषु मध्यद्वारकरणे न ब्रह्मणो वेध इति, अन्यत्र तु मध्ये द्वारो निषिद्धः" इति ग्रन्थकारः ।

गृहकरणे भित्तिदोषः —

एकभित्तिषु सम्बद्धं कारयेद् यो गृहद्वयम् ।
यमतुल्यं गृहं तत्तु कर्त्तुः स्यान्निधनप्रदम् ॥३२५॥

एक भित्ति से सम्बद्ध करके दो गृह नहीं होते हैं (बनते नहीं है), यदि बने तो उसे यम-गृह कहते हैं और उसमें गृहपति की मृत्यु होती है ॥३२५॥

वशिष्ठसंहितायान्तु चतुर्दिक्षु द्वात्रिंशदद्वाराणि भवन्ति, तत्र प्रत्येकं द्वारस्य फलमभिहितम्, यथा पूर्वादिक्रमेण—

दुःखं शोको धनप्राप्तिर्नृपपूजा महद्धनम् ।
स्त्रीजन्मापुत्रता हानिः प्राच्यां द्वारफलान्यतः ॥३२६॥

चौंसठ पद वास्तु के पूर्वमुख आठ भागों में प्रत्येक भाग के द्वार का फल— प्रथम भाग में यदि द्वार किया जाय तो दुःख, द्वितीय में शोक, तृतीय में धनप्राप्ति, चतुर्थ में नृपपूजा, पञ्चम में विशिष्ट धन की प्राप्ति, षष्ठ में स्त्रीजन्म, सप्तम में अपुत्रता एवं अष्टम में हानि होती है ॥३२६॥

निधनं बन्धनं भीतिः पुत्राप्तिश्च धनागमः ।
यशो लाभश्चोरभयं व्याधिभीतिश्च दक्षिणे ॥३२७॥

---

१. आश्रममिति विहारगृहम् ।

दक्षिण के आठ भागों में प्रथम द्वार का फल मृत्यु, द्वितीय में बन्धन, तृतीय में भय, चतुर्थ में पुत्रप्राप्ति, पञ्चम में धनागम, षष्ठ में यशोलाभ, सप्तम में चोरभय एवं अष्टम में व्याधिभय होता है ॥३२७ ॥

पश्चिमे द्वारफलम्—

शत्रुवृद्धिः पुत्रप्राप्तिर्लक्ष्मीप्राप्तिर्धनागमः ।
सौभाग्यं धनलाभश्च दुःखं शोकं च पश्चिमे ॥३२८ ॥

पश्चिम के प्रथम भाग में यदि द्वार हो तो शत्रुवृद्धि, द्वितीय में पुत्रप्राप्ति, तृतीय में लक्ष्मीप्राप्ति, चतुर्थ में धनागम, पञ्चम में सौभाग्य की वृद्धि, षष्ठ में धनलाभ, सप्तम में दुःख एवं अष्टम में शोक होता है ॥३२८ ॥

उत्तरे द्वारफलम्—

नैस्व्यं स्त्रीदूषणं हानिः सम्पत्प्रीतिः सुखागमः ।
शत्रुबाधा तथा दुःखं चोत्तरस्यां दिशि क्रमात् ॥३२९ ॥

उत्तर के प्रथमादि भाग में द्वार का फल—प्रथम में निर्धनता, द्वितीय में स्त्रीदोष, तृतीय में हानि, चतुर्थ में सम्पत्ति, पञ्चम में प्रीति, षष्ठ में सुखागम, सप्तम में शत्रुबाधा एवं अष्टम में दुःख होता है ॥३२९ ॥

विशेष—

यह क्रम वाम से दक्षिणावर्त ग्रहण करें। यथा— '**पूर्वाऽऽदौ त्रिषडर्षे** पञ्चमलवे वा सव्यतोऽङ्कोद्धृते' इति नारायणः।

द्वारप्रमाणं यथा—

विस्ताराद्द्विगुणोत्सेधं द्वारं न विषमायतम् ।
पश्चिमे दक्षिणे वापि कपाटं च सुखप्रदम् ॥३३० ॥

द्वार की चौड़ाई से दूनी द्वार की ऊँचाई होनी चाहिए। समायत ही द्वार शुभ है, विषमायत शुभ नहीं है। आमने-सामने, परस्पर के भुज व चारों कोण तुल्य हों, तो उसे समायत सम-कोण कहते हैं। दक्षिण व पश्चिम में कपाट सुखदायी होता है। मात्र दक्षिण व पश्चिम दोनों दिशा में द्वार होने से गृह का नाम मनोरम होता है ॥३३० ॥

अत्र द्वारविषये वराह-संहितायामपि यथा—

नवगुणसूत्रविभक्तान्यष्टगुणेनाथवा चतुःषष्टेः ।
द्वाराणि यानि तेषामनलादीनां फलोपनयः ॥३३१ ॥

एकाशीति पद वास्तु में ९ और चौसठ पद वास्तु में ८ से विभाजित करने पर अनलादि देव-प्रयुक्त ३२ द्वार होते हैं। जिनका देवता क्रम से फल भी कहा गया है।

"नवगुणेनैकाशीतिपदेऽष्टगुणेन चतुःषष्टिपदे" इत्यर्थः। पूर्वाणि द्वाराणि ऐशान्यादीनि, दक्षिणानि आग्नेयादीनि, पश्चिमानि नैऋत्यादीनि, उत्तराणि वायव्यादीनि द्वाराणि सन्ति। अर्थात्—पूर्व में अनलादि आठ, दक्षिण में अनिलादि आठ, पश्चिम में पित्र्यादि आठ, उत्तर में रोगादि आठ , कुल ३२ द्वार होते हैं। चाहे एकाशीति पद हो या चौसठ पद, द्वार की संख्या कुल बत्तीस ही होती है ॥३३१ ॥

पूर्वदिशि द्वारफलानि—

अनलभयं स्त्रीजननं प्रभूतधनता नरेन्द्रबाल्लभ्यम् ।
क्रोधपरताऽनृतत्वं क्रौर्यं चौर्यं च पूर्वेण ॥३३२॥

पूर्व शिखि स्थान में द्वार से अनल—अग्निभय, द्वितीय पर्यन्य में स्त्रीजन्म, तृतीय जयन्त में बहुवित्त, चतुर्थ इन्द्र में राजप्रियपात्रता, पञ्चम सूर्य में क्रोध-वृद्धि, षष्ठ सत्य में झूठा व्यवहार, सप्तम भृश में क्रूरता एवं अष्टम अन्तरिक्ष में तस्करभय होता है ॥३३२ ॥

दक्षिणद्वारफलम् —

अल्पसुतत्वं प्रैष्यं नीचत्वं भक्ष्यपानसुतवृद्धि ।
रौद्रं कृतघ्नमधनं सुतवीर्यघ्नं च याम्येन ॥३३३॥

दक्षिण में प्रथम द्वार अनिल भाग में अल्प-सुत, द्वितीय पौष्ण भाग में दासता, तृतीय वितथ में नीच-कर्मप्रवृत्ति, चतुर्थ बृहत्क्षत में सुभक्ष्य, सुपान एवं सुत की वृद्धि, पञ्चम यम भाग में अशुभ, षष्ठ गन्धर्व भाग में कृतघ्नता, सप्तम भृंगराज में निर्धनता. अष्टम मृग में पुत्र-बलनाश होता है ॥३३३ ॥

पश्चिमद्वारफलम्—

सुतपीडा रिपुवृद्धिः सुतधनप्राप्तिः सुतार्थफलसम्पत् ।
धनसम्पन्नृपतिभयं धनक्षयो रोग इत्यपरे ॥३३४॥

सर्वप्रथम पश्चिम पितृ-भाग में पुत्रव्यथा, द्वितीय दौवारिक में शत्रुवृद्धि, तृतीय सुग्रीव में पुत्र, धन की प्राप्ति, चतुर्थ कुसुमदन्त में पुत्र, धन, फल, सम्पत्ति, पञ्चम वरुण में धन-सम्पत्ति, षष्ठ असुर में राजभय, सप्तम शोष में धनक्षय, एवं अष्टम पापयक्ष्मा में रोगभय होता है ॥३३४॥

उत्तरद्वारफलम्—

वधबन्धो रिपुवृद्धिः सुतधनलाभः समस्तगुणसम्पत् ।
पुत्रधनाप्तिर्वैरं सुतेन दोषाः स्त्रिया नैस्व्यम् ॥३३५॥

उत्तर में प्रथम रोग भाग में वध-बन्धन (मृत्यु, बन्धन भीति), द्वितीय सर्प में शत्रुवृद्धि, तृतीय मुख्य में पुत्र व धन का लाभ, चतुर्थ भल्लाट में समस्त शौर्यादि गुणों व सम्पत्ति की प्राप्ति, पञ्चम सौम्य में पुत्र, वित्त की प्राप्ति, षष्ठ भुजङ्ग में पुत्र से वैर, सप्तम अदिति में स्त्री-दोष उत्पन्न हो एवं अष्टम दिति में निर्धनता हो ॥३३५॥

एकाशीति या चतुःषष्टिपद वास्तु की कल्पना की जाय; किन्तु देवता वही हैं और उन सभी देव-भागों के द्वार का फल भी उल्लिखित है।

दीपिकायां दिक्षु नक्षत्राणि—

कृत्तिकायास्तु पूर्वादौ सप्तसप्तोदिताः क्रमात् ।
यद्दिश्यं यस्य नक्षत्रं तत्र तस्य गृहं शुभम् ॥३३६॥

कृत्तिकादि सात-सात नक्षत्र पूर्वादि दिशाओं के नक्षत्र हैं। जिस व्यक्ति का जो नक्षत्र है, उसे ग्रामादिवास या भवन में अपने नक्षत्र की दिशा में निवास करना चाहिए। अपने नक्षत्र की दिशा में निवास शुभ होता है ॥३३६॥

पूर्वोक्तदिग्द्वारफलविषये निष्कर्षः—

द्वारं नवमभागेषु कार्यं वामात्प्रदक्षिणम् ।
तृतीयतुर्ययोः प्राच्यां याम्ये तुर्येऽथ पश्चिमे ॥३३७॥

त्रितुर्यपञ्चमे चैव पञ्चवेदत्रिपूत्तरे ।
तत्र द्वारं च कर्त्तव्यं धनधान्यादिवृद्धये ॥३३८ ॥

नव विभक्त द्वार प्रकरण विधान के निष्कर्ष से पूर्वादि दिशाओं में वाम से दक्षिणावर्त क्रमशः पूर्व में तीसरे, चौथे, दक्षिण में चौथे, पश्चिम व उत्तर में तीसरे, चौथे, पाँचवे भाग में विधानतः द्वार शुभ होता है। ३३७-३३८ ॥

	अग्निभय	स्त्रीजन्म	धनवृद्धि	नृपोपलब्धि	क्रोधाधिकता	असत्यता	क्रूरता	चौरभय	
स्त्री-धन-हानि	ईशान				पूर्व			आग्नेय	अपुत्रता
पुत्रकष्ट दोष									प्रेषत्व (दासता)
वैर									नीचत्व
पुत्र-धन-प्राप्ति	उत्तर							दक्षिण	भक्ष्य-पान-सुत-वृद्धि
सर्व-गुणोपलब्धि									रौद्र-क्रूरता
धन-पुत्र-लाभ									कृतघ्नता
शत्रु-वृद्धि									अधनता
वध-बन्धन	वायव्य			पश्चिम				नैऋत्य	पुत्र-बल-नाश
	रोग-वृद्धि	धनक्षय	राजभय	धन-लाभ	महद् ऐश्वर्य	पुत्र-अर्थ-लाभ	शत्रु-वृद्धि	सुतपीड़ा	

[चक्र से ३२६ से ३३८ श्लोक तक का अर्थ स्पष्ट है]

'नवगुणसूत्रविभक्तान्येकाशीतिपदे नृपादीनां विप्रादिवर्णानां च द्वाराणि कार्याणि, यथा चतसृष्वपि दिक्षु नवगुणसूत्रविभक्तानि (नवविभागा भवन्ति), तत्र फलप्रतिपादने पूर्वादि प्रत्येकदिशि अष्टानां देवतानां स्थानेषु अष्ट-द्वाराणि जायन्ते, सर्वयोगेन द्वात्रिंशद्द्वाराणि सन्ति, तेषाम् आचार्येण समाससंहिताफलनिर्देशो देवतात्मक एव कृतः। अत एव पूर्वोक्तं द्वारफलं सर्वैरेव कर्त्तव्यमिति साधु निबन्धने स्पष्टतरं निबद्धम्, यथा—

पूर्वाण्यैशान्यां याम्याग्नेय्यां दक्षिणानि जानीयात् ।
द्वाराणि नैर्ऋत्मता पश्चिमान्युदकस्थानि वायव्याम् ॥३३९॥

एकाशीति पद में ९ भाग, चौसठ पद वास्तु में ८ भाग करें, तो द्वार-करण के प्राविधान से द्वैधीभाव उत्पन्न होना अनिवार्य है, कि कौन सा पक्ष स्वीकार किया जाय; परन्तु निष्कर्ष यह है कि चारों दिशाओं की द्वार-संख्या ३२ है, जो बत्तीस देवों के स्थानों में उन देवों के अनुसार द्वार का फल है। जैसा कि ईशानकोणस्थ शिखि से पूर्व अन्तरिक्ष तक पूर्व द्वार, दक्षिण में अग्निकोणस्थ अनिल से मृग तक, पश्चिम में पितृ से पापयक्ष्मा तक, उत्तर में रोग से दिति तक, प्रत्येक दिशा में आठ-आठ हैं। संख्या ८१ या ६४ पद दोनों में देवों का क्रम एक है। जो चक्र से स्पष्ट है। अतः पूर्वादि चार दिशाओं में विभक्त आठ देवस्थानों में से जो शुभ स्थान हैं, उनमें नृपादि सभी वर्णों के लिए द्वार करना निर्विवाद सिद्ध है ॥३३९॥

यथोक्तं समाससंहितायां स्पष्टार्थमिति—

आग्नेयमग्निभयदं पार्जन्यं स्त्रीप्रसूतिदं द्वारम् ।
प्रचुरधनदं जयन्तं नृपवल्लभकारि माहेन्द्रम् ॥३४०॥
सौर्ये क्रोधः प्रचुरः सत्येऽनृतवादितं भृशे क्रौर्यम् ।
चौर्यं तथान्तरिक्षे प्राग् द्वाराणि प्रदिष्टानि ॥३४१॥
वायव्येऽल्पसुतत्वं प्रैष्यं पौष्णेऽथ नीचता वितथे ।
बह्वन्नपानपुत्रं बृहत्क्षते याम्येऽपि रौद्रम् ॥३४२॥

गान्धर्वे गन्धत्वं नृपचौरभयाय भृङ्गराजाख्यम् ।
मृगमपि सुतवीर्यघ्नं दक्षिणतो द्वारनिर्देशः ॥३४३ ॥
पित्र्ये शरीरपीडा दौवारिकसंज्ञिते च रिपुवृद्धिः ।
सुग्रीवे धनहानिः पुत्रधनाढ्यं कुसुमदन्तम् ॥३४४ ॥
वारुणमर्थनिचयदं नृपभयदं चासुरं विनिर्दिष्टम् ।
शोषं धनहानिकरं बहुरोगं पापयक्ष्माख्यम् ॥३४५ ॥
रोगमुखं वधबन्धदमात्मजवैराभिवृद्धिदं नागम् ।
मुख्यं धनसुतवृद्धिदमनेककल्याणदं भल्लाटम् ॥३४६ ॥
सौम्यं धनपुत्रकरं भौजङ्गे पुत्रवैररिपुवृद्धिः ।
अदितौ स्त्रीदोषाः स्युर्दितौ धनं संक्षयं याति ॥३४७ ॥

इति कारिकावलोकनेन द्वारप्रकरणं सन्देहरहितम् ॥३४०-३४७ ॥

तथा च भगवान् गर्गः—

पूर्वादिक्रमयोगेन हौताशेऽग्निभयं वदेत् ।
पार्जन्ये प्रचुरा नार्यो जयन्ते बहुवित्तता ॥३४८ ॥
माहेन्द्रे नृपवाल्लभ्यं सौर्ये तु क्रोधता भवेत् ।
सत्येऽनृतत्वं विज्ञेयं क्रूरत्वं तु भृशे भवेत् ॥३४९ ॥
अन्तरिक्षे तु विज्ञेयो नित्यं चौरसमागमः ।
स्यात् पुत्रकामो वायव्ये पौष्णे प्रेषत्वमेव च ॥३५० ॥
नीचत्वं वितथे ज्ञेयं स्याद्बृहक्षे तु सन्ततिः ।
क्षुद्रकर्मा भवेद्याम्ये गान्धर्वे कृतनाशनम् ॥३५१ ॥
पित्रे स्वल्पायुरधनं व्ययं दौवारिके महत् ।
सुग्रीवे धननाशः स्यात्पुष्पदन्ते तु वर्धनम् ॥३५२ ॥
वरुणे क्रोधभागित्वं नृपभङ्गस्तथासुरे ।
नित्यातिरोगिता शोषे पापाख्ये पापसञ्चयः ॥३५३ ॥

रोगे बन्ध-वधो नित्यं नागे रिपुभयं महत् ।
मुख्ये धनसुतोत्पत्तिर्भल्लाटे विपुलाः श्रियः ॥३५४॥
सौम्ये तु धर्मशीलत्वं भौजङ्गे बहुवैरता ।
अदितौ वनितादोषा दितौ तु धनसंक्षयः ॥३५५॥
पदे पदे कृतं श्रेष्ठं द्वारं सफलदायकम् ।
पदद्वये कृतं यच्च तद्व्यामिश्रफलप्रदम् ॥३५६॥

अनेनात्र एकाशीतिपदविभागे नृपादीनाम्, विप्रादिवर्णानां च वेश्मानि कार्याणि परेषां चतुःषष्टिपद इति।

नृपादिकों एवं विप्रादिकों के लिए एकाशीतिपदवास्तु व अन्य के लिए सर्वत्र चौसठ-पद-वास्तु का प्रयोग करें, पूर्वोक्त कारिका से इस आशय का स्पष्टीकरण हो जाता है, अतः अष्ट द्वार का फल सबके लिए प्रमाणसिद्ध है। एक में किया गया द्वार स्वतन्त्र फलदायक, दों पद का द्वार मिश्रफलद है ॥३४८-३५६॥

अथ खेट-नगर-ग्रामादौ शतपदविभागोऽपि वर्तते, यदाह **विश्वकर्मा**—

राजवेश्मनि वेश्मंश्च[१] गृहादीनि च वर्णितम् ।
एकाशीतिपदेनैव शक्रस्थानञ्च मापयेत् ॥३५७॥
नगरग्रामखेटादीन् शिविराणि च भूभृतात् ।
स्थपतेर्वै शतपदविभागेनैव मापयेत् ॥३५८॥

राजा के सभी प्रकार के गृहों और विप्रादि वर्णो के गृहों में एकाशीति-पद-वास्तु से द्वार के लिए इन्द्र पद का माप करना चाहिए; क्योंकि राजा के गृह का द्वार इन्द्र स्थान में शुभ होता है। नगर, ग्राम, छोटा स्थान (टोला), छावनी आदि शिविर और स्थपति के मकान में शतपद विभाग के द्वारा भी इन्द्र पद का ज्ञान करें।

---

१. 'वेश्मन्' शब्द इति।

अन्यत्र चतुःषष्टिपदेन प्रमितिः स्मृतेति, तत्तु द्वाराणि प्रतिदिशम् अष्टौ-अष्टौ इत्युक्तं तत्रैकाशीतिपदे नवमं पदमतिरिच्यते, शतपदे च नवमं दशमं च द्वे पदे (द्वाराणि अष्टावेव) , तत्र को निर्णय इति चेदत्रोच्यते—प्रागेव वास्तुदेवतानां विभागं कृत्वा अनलादीनां देवतानां पदेषु द्वाराणि निरूपितानि, तत्र सर्वत्र द्वारमिति भित्तिरेव चिन्तनीयेति।

उपरोक्त गद्य का सर्वाशय पूर्व श्लोकों की टीका में वर्णित है ॥३५७-३५८ ॥

अथ द्वारवेधफलं बृहत्संहितायाम्—

मार्गतरुकोणकूपस्तम्भभ्रमविद्धमशुभदं द्वारम् ।
उच्छ्रायाद्द्विगुणितमितां त्यक्त्वा भूमिं न दोषाय ॥३५९ ॥

मार्ग (रास्ता), वृक्ष, कोण, कूप, स्तम्भ, भ्रम (जल-निर्गमन प्रदेश), गड्ढ़ा, ये सब द्वार के सम्मुख होने पर वेध होता है। द्वार की ऊँचाई के दूना अन्तर भूमि छोड़कर अर्थात् द्वार की ऊँचाई के दूना अन्तर होने पर पूर्वोक्त वेध का दोष नहीं होता है ॥३५९ ॥

अथ समाससंहितायां स्पष्टतरं वाक्यम्—

स्तम्भतरुभ्रमकोणैर्विद्धं वेधश्च[१] न शुभकरद्वारम् ।
वेधोच्छ्रायाद् द्विगुणां भूमिं त्यक्त्वा न दोषाय ॥३६० ॥

गर्गोऽपि—

द्वारोच्छ्रायद्विगुणितां त्यक्त्वा भूमिं बहिःस्थितः ।
न दोषाय भवेद्वेधो गृहस्य गृहिणोऽथवा ॥३६१ ॥

स्पष्टार्थः ॥३६०-३६१ ॥

---

१. द्वारं न शुभं स्यादिति पाठः साधुः प्रतिभाति।

द्वारवेधे विशेषफलम्—

रथ्याविद्धं द्वारं नाशाय कुमारदोषदं तरुणा ।
पङ्कद्वारे शोको व्ययोऽम्बुनिःस्राविणि प्रोक्तः ॥३६२॥
कूपेनापस्मारो भवति विनाशश्च देवताविद्धे ।
स्तम्भेन स्त्रीदोषाः कुलनाशो ब्राह्मणाभिमुखे ॥३६३॥

मुख्य द्वार मार्ग से विद्ध होने पर गृहस्वामी की मृत्यु होती है। वृक्ष के वेध से कुमार (दूषित) आचरणहीन होते हैं। कर्दम (पंक) से विद्ध होने पर गृही नित्य शोकसन्तप्त होता है। जल के निर्गम (प्रवाह) से विद्ध होने पर व्यय होता है। कूप (कुँआ) से विद्ध होने पर अपस्मार (मृगी) रोग होता है। देवता (प्रतिमा) से विद्ध होने पर स्वामी का विनाश होता है। स्तम्भ से विद्ध होने पर स्त्रियों में दुःशीलता आती है। ब्रह्मा के वेध से कुलनाश होता है। मध्य का द्वार ब्रह्मविद्ध होता है, जैसे नवगुण-सूत्र-विभक्त पाँचवाँ भाग यद्यपि उत्तर में शुभ है; किन्तु बाहर या भीतर कहीं से भी ब्रह्मविद्ध द्वार कुल का नाश करता है, अर्थात् विस्तार या दीर्घ के बीच में द्वार नहीं करना चाहिए। ब्रह्मा से विद्ध में कुलनाश होता है, तो ब्रह्मा की बाह्य प्रतिमा या गृहाभ्यन्तर ब्रह्मस्थान से विद्ध का क्या फल है? इस शंका के समाधान में देवता के वेध से दुष्ट फल होता है, तो देवतात्वेन बाहर स्थित (बाह्यस्थ) ब्रह्मप्रतिमा से विद्ध और मध्य द्वार ब्रह्मवेध होने से निषिद्ध है। अतः बाह्य ब्रह्मप्रतिमा या अन्तर्गत ब्रह्मस्थान दोनों से वेध ग्राह्य नहीं है। यथोक्तं **विश्वकर्मणा** —

"गृहमध्ये कृतं द्वारं धनधान्यविनाशनम्" से अन्तःस्थ ब्रह्मविद्ध का प्रयोजन है व बाह्य ब्रह्म-प्रतिमा का वेध यथा—

ब्रह्मणा यच्च संविद्धं तद्द्वारं कुलनाशनम्।
आवहेत्कलहं शोकं नारीं वा सम्प्रदूषयेत्॥

अन्यच्च भारद्वाजः—

> शिरामर्माणि वंशाश्च नालमध्यं च सर्वशः।
> विहाय वास्तुमध्यं च द्वाराणि विनिवेशयेत् ॥

तथा च यम आह—

> ब्रह्मस्थानेन विध्येत नागदन्तस्थलानि च।
> मृद्दारुभिर्गवाक्षैश्च मानपानैस्तथैव च ॥
> द्वारैश्च भित्तिभिश्चैव शय्याभागैः कथञ्चन।
> स्वामिनो मरणं तत्र महादुःखेन पार्थिव ॥

एवं चेत्तदाऽऽचार्येण पूर्वापरविरुद्धेन निबन्धनं कृतमित्यत्रोच्यते—

सर्वेष्वेव वास्तुषु उत्सर्गापवादरूपेण विविधा व्याख्या च भवति। तथा च यात्राप्रकारे प्राच्यादिषु सप्त सप्त नक्षत्राण्यभिधाय पुनः सर्वद्वारिकसंज्ञं नक्षत्रचतुष्टयमाह, एवमत्रापि तस्मादयमदोष इति।

गृह में उत्सर्ग और अपवाद द्वारा अनेक प्रकार की व्याख्या की गई है; किन्तु प्रकरण में उत्तर के पाँचवें भाग का द्वार शुभ और वेध-प्रकरण में मध्यद्वार ब्रह्मवेध होने से निषिद्ध कहा गया है। अतः यहाँ निषिद्ध वाक्य का समावेश है; किन्तु विधि-विशेष वाक्य के आधार पर उत्तर में पाँचवाँ ग्राह्य है।

इस विवाद प्रपञ्च से निर्दोष फल के लिए पाँचवाँ शुद्ध होने पर भी सर्वत्र मध्यभाग का त्याग सर्वसम्मत होने से उत्तर में पाँचवें भाग में द्वार न करना ही उचित है ॥३६२-३६३ ॥

ग्रन्थकर्तुर्विवेचना यथा—

ननु ब्रह्मवेधे कुलनाश इत्युक्तं तत्र सन्देहः— किं वास्तुपदविन्यस्तो ब्रह्मपदवेधो गृहबहिर्मूर्ति(प्रतिमा)वेधादिति स्पष्टं नावगम्यते? अत्र विशेषादुभयविधस्य ब्रह्मणो वेधो वै दुष्टफलदोऽत्र गृह्यते।

निष्कर्षः— बाह्यब्रह्मप्रतिमया अन्तःब्रह्मपदेन वा उभयविधवेधस्त्याज्य एव। (दोनों वेध त्याज्य होने से मध्य द्वार सर्वथा निषिद्ध है।)

यदाह विश्वकर्मा—

"गृहमध्ये कृतं द्वारं द्रव्यधान्यविनाशनम्"[1]।

अत्र पञ्चमद्वारस्य शुभता विहिता, तत्र विशिष्टप्रतिपादनादस्य उत्सर्गतोपपद्यत इति भावः। अत्र मध्ये पञ्चमपदस्य शुभत्वस्य निषेध इति निर्गलितोऽर्थः।

द्वारस्य कपाटविषये वराहः —

उन्मादः स्वयमुद्घाटितेऽथ विहिते स्वयं कुलविनाशः ।
मानाधिके नृपभयं दस्युभयं व्यसनमेव नीचे च ॥३६४॥

द्वारं द्वारस्योपरि यत्तन्न शिवाय सङ्कटं यच्च ।
आव्यात्तं क्षुद्भयदं कुब्जं कुलनाशनं भवति ॥३६५॥

पीडाकरमतिपीडितमन्तर्विनतं भवेदभावाय ।
बाह्यविनते प्रवासो दिग्भ्रान्ते दस्युभिः पीडा ॥३६६॥

द्वार का कपाट अपने आप खुल जाय तो चित्तोन्माद होता है। अपने से बन्द हो जाय, तो कुल का विनाश होता है, द्वार के विहित प्रमाण से अधिक होने पर राजभीति, प्रमाण से अल्प होने पर दस्युभय (चोरभय) व दुःख होता है। द्वार के सामने द्वार कल्याणकारी नहीं होता है, वह विशेष संकटकारक है। द्वार के न्यूनत्व में भी कल्याण नहीं है। अतिविस्तृत मुरजाकार[2] हो, तो क्षुद्भय, कुब्ज, टेढ़ा, अस्पष्ट हो, तो कुल का विनाश, उदुम्बर[3] काष्ठ अतिहीन की दशा में हो, तो स्वामी को पीड़ा होती है, भीतर की तरफ अवनत द्वार मृत्युकारक है, बाहर झुका हो तो प्रवास कराता है एवं दिग्भ्रान्त होने पर दस्युपीड़ा होती है ॥३६४-३६६॥

मूलवाक्यम्—आव्यात्तं मध्यविपुलं मुरजानुकारं कपाटं क्षुद्भयदम्, कुब्जम् अस्पष्टं विनतोन्नतम् उदुम्बरेण अतिपीडितमिति। (गद्यार्थ श्लोकार्थ में अन्तर्भूत है।)

---

१. विषयप्रतिपादनेऽतिशयत्वादाचार्यकृतविवेचनया न पुनरुक्तिदोषः।

२. ढ़ोल के आकार का।

३. द्वार के नीचे, ऊपर के काष्ठ को उदुम्बर कहते हैं।

द्वारविषये वैशिष्ट्यम्–

मूलद्वारं नान्यैद्वरैरभिसन्दधीत रूपद्धर्या ।
घट-फल-पत्र-प्रमथादिभिश्च तन्मङ्गलैश्चिनुयात् ॥३६७॥

मूलद्वारस्य यादृशी रूपसौन्दर्यसमृद्धिस्तादृशीतरेषु द्वारेषु न कार्येति तात्पर्यम्। तच्च मुख्यद्वारं घटादिभिश्चिनुयादुपचितं कुर्यात्। घटाः, कलशाः, फलानि, श्रीफलादीनि, पत्राणि, वाहनानि, अश्वादीनि प्रमदास्तत्सदृशकाष्ठ-निर्मितपुत्रिका-(कन्या)कृतिः, क्वचित्प्रमथेति पाठस्तत्र प्रमथा नन्दिगणाः (प्रह-रिणः)। आदिग्रहणात्सिहहंसादयः।

प्रधान द्वार की रूप, सौन्दर्य-समृद्ध रचना के समान अन्य द्वारों की रूप, सौन्दर्यादि-समृद्ध रचना की आवश्यकता नहीं है। प्रधान द्वार माङ्गलिक कलश, श्रीफल, लता, नन्दीगण, प्रहरी, सिंह, हंस, अश्वादि वाहन, कन्या आदि मांगलिक चिह्नों से उपचित (उपलक्षित) करना चाहिए। अर्थात् प्रधान द्वार माङ्गलिक चित्रों से चित्रित होना चाहिए॥३६७॥

पुरनगरग्रामाणां ये कोणास्तेषु निवसतां दोषाः ।
श्वपचादयोऽन्त्यजास्तेष्वेव विवृद्धिमायान्ति ॥३६८॥

यतस्तेषु कोणेषु चरक्यादीनां निवास इत्यर्थः। श्वपचाश्चाण्डालाः।

पुर-ग्राम व नगरों के कोणों में श्वपचादि अन्त्यजों का निवास श्रेयष्कर है; क्योंकि कोणों में चरकी आदि राक्षसियाँ निवास करती हैं। ईशाम में चरकी, अग्निकोण में विदारी, नैऋत्य में पूतना एवं वायव्य में पापराक्षसी रहती है॥३६८॥

यथोक्तं वराहेण–

ऐशान्यादिषु कोणेषु संस्थिता बाह्यतो गृहस्यैताः।
चरकी विदारी नामाऽथ पूतना राक्षसी चेति॥

शास्त्रान्तरेष्वष्टौ पठ्यन्ते, यथा–

स्कन्धोऽर्यमा जम्बुकाख्यः पिलिपिच्छस्तथापरः।
प्राच्यादिदिक्चतुष्के तु निवसन्ति यदा ग्रहाः॥

कोणेष्वाचार्योक्ता एव—

ऐशान्यां चरकी प्रोक्ता स्कन्दः प्राग्भाक्संस्थितः ।
हौताशायां विदारी च याम्यां चैवार्यमा स्थितः ॥

पूतना नैऋते ज्ञेया जम्बुकः पश्चिमे स्थितः ।
राक्षसी चानिले कोणे पिलिपिच्छस्तथोत्तरे ॥

वेधविषये वास्तुशास्त्रे यथोक्तम्—

पृष्ठतः पार्श्वयोर्वापि न वेधं चिन्तयेद्बुधः ।
प्रासादे वा गृहे वापि वेधमग्रे विनिर्दिशेत् ॥३६९ ॥

वेध पीछे, वाम व दक्षिण पार्श्व से नहीं होता है । पूर्व श्लोक से जो द्वार-वेध निर्दिष्ट है, प्रासाद या गृह में जो वेध कहा गया है, उसका तात्पर्य सम्मुख वेध से है ॥३६९ ॥

वर्जयेदग्रतः पृष्ठदृष्टिं चण्डीससूर्ययोः ।
वामत्वं वासुदेवस्य दक्षिणं ब्रह्मणः पुनः ॥३७० ॥

दक्षिणं रक्षिणत्वं च वामे चैव निराश्रयम् ।
तदा वेधं विजानीयाद् गृहेशस्य क्षयावहम् ॥३७१ ॥

उपर्युपरि यद्वेश्म न समं तत् प्रकल्पयेत् ।
समवेधं भवेत्तत्तु समस्तकुलनाशनम् ॥३७२ ॥

चण्ड़ी व सूर्य की दृष्टि सम्मुख, पीछे, वासुदेव की दृष्टि वाम भाग, ब्रह्मा की दृष्टि आगे-पीछे व दक्षिण भाग में ही होती है । दक्षिण दृष्टि रक्षा करती है और वाम दृष्टि निराश्रय देती है; किन्तु सामने की दृष्टि (सम्मुख वेध) समस्त कुल का विनाश करती है । यहाँ पर सम्मुखवेध का तात्पर्य ३५९ श्लोक में प्रतिपादित वेध से है ॥३७०-३७२ ॥

अत्रैव वेधविषयेऽन्यः—

द्वारस्योपरि द्वारं द्वारं द्वारस्य सम्मुखम् ।
न कर्त्तव्यं पदं यस्मात्तद्गृहं न सुखावहम् ॥३७३ ॥

द्वार के सम्मुख द्वार करने से सुख-शान्ति नहीं मिलती है ॥३७३ ॥

एकभित्तिस्थगृहद्वयसम्बन्धनिषेधे **वशिष्ठः**—

एकभित्तिषु सम्बद्धं कारयेद्वै गृहद्वयम् ।
यमतुल्यं तदा नाम भर्त्तुर्देहविनाशनम् ॥

अत्र विशेषः—

बहिर्द्वारं प्रकुर्वीत नेतरेतरसम्मुखम् ।
बहिर्द्वारं न कुर्वीत तद्गृहद्वारसम्मुखम् ॥३७४ ॥

द्वार के सम्मुख बाहर का द्वार नहीं करना चाहिए, अर्थात् बाहर के मुख्य दरवाजे के सम्मुख किसी का द्वार नहीं होना चाहिए ॥३७४ ॥

समराङ्गणे सूत्रधारवचनम्—

कूपमध्ये गता छाया गृहप्रासादयोर्यदि ।
छायाविद्धं भवेत्तच्च तद्गृहे न हि संवसेत् ॥३७५ ॥

गृह या प्रासाद की छाया यदि कूप के अन्दर प्रविष्ट हो जाती है, तो वह गृह छायाविद्ध होगा, उसमें निवास उचित नहीं है ॥३७५ ॥

अत्रैव छायावैशिष्ट्यम्—

प्रथमान्तयामवर्ज्या द्वित्रिप्रहरसम्भवा ।
छाया वृक्षद्वयादीनां[१] सदा दुःखप्रदायिनी ॥३७६ ॥

प्रथम व अन्तिम प्रहर के अतिरिक्त दूसरे व तीसरे प्रहर की किसी भी वृक्ष आदि की छाया घर पर दुःखदायिनी होती है ॥३७६ ॥

अथ गृहे सर्वदा श्रीनिवासलक्षणमाह विश्वकर्मा—

न दोषो यत्र वेधादिर्नवं यत्राखिलं गृहम् ।
बहु द्वाराणि नो यत्र यत्र स्याद् धान्यसंचयम् ॥३७७ ॥

---

१. 'वृक्षसमुद्भूता' इत्यादिपाठः साधु प्रतीयते, "यामाद्दूरमशेषवृक्षजनिता छाया न शस्ता गृहे" इति वशिष्ठवचनात् ।

पूज्यन्ते देवता यत्र यत्रान्वेक्षणमादरात् ।
रक्ता च जनिका यत्र यत्र स्यान्मार्जनादिकम् ॥३७८॥
यत्र ज्येष्ठ-कनिष्ठादिव्यवस्था सुप्रतिष्ठिता ।
मा स्वीयपरजो भावो यत्र स्यात्समतीर्थता ॥३७९॥
दीप्यते कोषको यत्र पालनं यत्र रोगिणाम् ।
श्रान्तसंवाहना यत्र तत्र स्यात्कमला गृहे ॥३८०॥

एवं स्मृतिपुराणेभ्योऽन्यदपि ।

गृह में चिरकाल तक लक्ष्मी के निवास में कारण (लक्षण) —

१. देवताओं में श्रद्धा, विश्वास और उनका समादरपूर्वक आवाहन व विसर्जन ।
२. अतिथियों का समुचित समादर (गमनागमन में समभाव) ।
३. बालकों की प्रसन्नता (उल्लास) व उन्मुक्तता ।
४. मार्जनादि स्वच्छता की उत्तम व्यवस्था ।
५. परस्पर अपना व पर के भेद-भाव से रहित व्यवहार ।
६. छोटे-बड़े के भेद से उन्मुक्त आचरण (छोटे-बड़े का यथायोग्य समादर) ।
७. अर्थाधिकारी का दीन-हीन, तुच्छ स्वार्थ से मुक्त होकर हर्षित रहना ।
८. भेदभावरहित कर्तव्यनिष्ठा से रोगियों की सेवा ।
९. स्वास्थ्यलाभार्थ वाहनों को भी विश्राम का अवसर ।
१०. जन्मदात्री माताओं का अनुरक्त रहना ।
११. नवनिर्मित भवन की सर्वाङ्ग-परिपूर्णता ।
१२. बहुद्वारविहीन घर का होना ।
१३. शास्त्रोक्त वेधादि दोषरहित होना ।

उपर्युक्त १३ लक्षणों से युक्त गृह में लक्ष्मी सर्वदा निवास करती हैं ॥३७७-३८०॥

गृहारम्भे शुभा मासाः—

सौम्यफाल्गुनवैशाखमाघश्रावणकार्तिकाः ।
मासाः स्युर्गृहनिर्माणे पुत्रारोग्यधनप्रदाः ॥३८१॥

अत्र वशिष्ठः —

मासे तपस्ये तपसि माधवे नभसि त्विषे ।
ऊर्जे च गृहनिर्माणं पुत्रपौत्रधनप्रदम् ॥३८२॥

श्रीपतिः —

शोको धान्यं मृतिः पशुहतिर्द्रव्यवृद्धिर्विनाशो
युद्धं भृत्यक्षतिरथ धनं श्रीश्च वह्नेर्भयत्वम् ।
लक्ष्मीप्राप्तिर्भवति भवनारम्भकर्तुः क्रमेण
चैत्रादूचे मुनिभिरुदितं वास्तुशास्त्रोपदिष्टम् ॥३८३॥

सौम्य = मार्गशीर्ष, शेष श्लोकार्थ स्पष्ट है ॥३८१॥

वशिष्ठ जी के अनुसार—

फाल्गुन, माघ, वैशाख, आश्विन व कार्तिक मास गृहनिर्माण में पुत्र-पौत्र व धन की वृद्धि करते हैं ॥३८२॥

श्रीपति के अनुसार—

गृहनिर्माण में चैत्र में शोक, वैशाख में धन-धान्य, ज्येष्ठ में मृत्यु, आषाढ़ में पशुहानि, श्रावण में द्रव्यवृद्धि, भाद्रपद में विनाश, आश्विन में युद्ध, कार्तिक में भृत्यक्षति, मार्गशीर्ष में धनलाभ, पौष में श्रीलाभ, माघ में अग्निभय एवं फाल्गुन में लक्ष्मी का लाभ होता है ॥३८३॥

योगेश्वराचार्यः —

आषाढचैत्राश्वयुजोर्जमाघज्येष्ठेषु च प्रौष्ठपदेषु नूनम् ।
निकेतनानां घटनं नृपाणां योगेश्वराचार्यमतेन शस्तम् ॥३८४॥

योगेश्वराचार्य के अनुसार—

आषाढ़, चैत्र, आश्विन, कार्तिक, माघ, ज्येष्ठ एवं भाद्रपद में राजाओं का गृह-निर्माण शुभ है ॥३८४॥

मत्स्यपुराणे —

आषाढे भृत्यरत्नानि पशुवर्ज्यमवाप्नुयात् ।
श्रावणे मित्रलाभश्च हानिर्भाद्रपदे तथा ॥३८५॥

भार्याहानिस्त्विषे मासे कार्तिके धन-धान्यकम् ।
मार्गशीर्षे तथा वित्तं पौषे तस्करतो भयम् ॥३८६॥

लाभं तु बहुशो विन्द्यादग्निर्माघे विनिर्दिशेत् ।
काञ्चनं फाल्गुने विन्द्यादिति मासफलं बुधैः ॥३८७॥

आषाढकार्तिकादीनामिष्टानिष्टफलश्रुतेस्तत्तत्फलार्थिनस्तदनिष्टफलाङ्गीकारे सत्युपादानमन्यथा त्याग इत्यवगन्तव्यमिति सारसागरे व्याख्यातम्।

गृहारम्भ के उपर्युक्त मासों में आषाढ, कार्तिक आदि मासों में मतान्तरों से इष्ट, अनिष्ट दोनों फल बताये गये हैं। फलार्थी यदि स्वीकार करे, तो ग्राह्य हैं, अन्यथा जिन मासों के फलों में विकल्प हैं, उन्हें त्याग देना ही इष्ट है। यह सारसागर की व्याख्या है ॥३८५-३८७॥

नारदस्तु—

गृहसंस्थापने सूर्ये मेषस्थे शुभदं भवेत् ।
वृषस्थे धनवृद्धिः स्यान्मिथुने मरणं ध्रुवम् ॥३८८॥

कर्कटे शुभदं प्रोक्तं सिंहे भृत्यविवर्धनम् ।
कन्या रोगं तुला सौख्यं वृश्चिके धनवर्द्धनम् ॥३८९॥

कार्मुके च महाहानिर्मकरे स्याद् धनागमः ।
कुम्भे तु रत्नलाभः स्यान्मीने सद्म भयावहम् ॥३९०॥

मेष के सूर्य में गृहारम्भ शुभ, वृष में धनवृद्धि, मिथुन के सूर्य में मरण, कर्क में शुभ, सिंह में भृत्यवृद्धि, कन्या में रोग, तुला में सुख, वृश्चिक में धनवर्द्धन, धनु में हानि, मकर में धनागम, कुम्भ में रत्नलाभ एवं मीन में सम्पत्तिनाश होता है ॥३८८-३९०॥

निष्कर्ष—वैशाख में मेष, वृष के सूर्य, श्रावण में कर्क और सिंह के सूर्य, कार्तिक और मार्गशीर्ष में वृश्चिक के सूर्य एवं फाल्गुन में मकर, कुम्भ के सूर्य में गृहारम्भ से दोनों मासों की संगति एवं मास-फल के द्वैधीभाव की निवृत्ति हो जाती है।

अथ द्वारमुद्दिश्य सौरमासानाह श्रीपतिः —

कर्कनक्रहरिकुम्भगतेऽर्के पूर्वपश्चिममुखानि गृहाणि ।
मेषतौलिवृषवृश्चिकयाते दक्षिणोत्तरमुखान्यपि कुर्यात् ॥३९१ ॥

कर्क-मकर-कुम्भ के सूर्य में पूर्व व पश्चिम मुख द्वार का गृहारम्भ शुभ है एवं तुला-मेष-वृष-वृश्चिक राशि के सूर्य में दक्षिण व उत्तर मुख द्वार का गृहारम्भ करना चाहिए ॥३९१ ॥

अन्यथा यदि करोति दुर्मतिर्व्याधिशोकधननाशमश्नुते ।
मीनचापमिथुनगते सति कारयेन्न गृहमेव भास्करे ॥३९२ ॥

सूर्य, चान्द्र मास के अनुसार विधिविहित मासों के विपरीत मासों में गृहारम्भ से दुर्बुद्धि, रोग और शोक होता है, यथा कि ग्रन्थकार मीन, मिथुन व धनु के सूर्य में गृहारम्भ निषिद्ध बताये हैं।३९२ ॥

अत्र निषिद्धमासानामपि विधानमुक्तं तत्तु अनियत-(विधिविरुद्ध) तृणगृहारम्भविषयमिति, यथोक्तं **व्यवहारोच्चये—**

निषिद्धेष्वपि कालेषु सानुकूले शुभे दिने ।
तृणदारुगृहारम्भे मासदोषो न विद्यते ॥३९३ ॥

महादेवेन तु चिकीर्षितगृहद्वारानुकूलं रविसंक्रमणो मासः समीचीनो विहित एव, यथा वैशाखादिमासेषु गृहारम्भः कार्य इति। इतो भिन्नारम्भेऽनिष्टं स्यादिति व्याख्यातम्।

श्रीमहादेव की व्याख्यानुसार निर्दोषित गृह का आरम्भ वैशाखादि शुभ मासों में होना चाहिए, विपरीत करने से हानि होती है।

तथा च दिङ्मूढे कुलनाशः स्यादित्यभिधानात्, गृहस्य विधानकोटौ सन्निवेशाभावात्। तृणादिगृहेषु निषिद्धस्यैव मासस्य विहितत्वादनुकूलत्वाच्चानपेक्षणीयत्वादपि षड्वर्गशुद्धगृहेष्वारम्भे न निषिद्धो मासो ग्राह्यः, अपि तु चान्द्रमास-रविसंक्रमणमासयोरुभयोरपि सानुकूल्यमेव गृहारम्भे साधनीयमिति-निष्कर्षः।

अनेन मत्स्यपुराणोक्तमाघपौषादीनामिष्टानिष्टफलविवेचनया रविसंक्रमणमासद्वयेनैव मासव्यवस्था समुचितेति। यतो हि इष्टाङ्गीकारपूर्वकेष्टाङ्गीकारविषयतानिष्टेषु आंशिकप्रवृत्तेरभावात्।

अपरे तु वैशाखादिचान्द्रमासं गृहारम्भशिलान्याससूत्रप्रसारणरूपकार्ये व्याप्रियते (स्वीकृतवन्तः), द्वारस्थापनकाले तु सौरमासं गृहीतवन्तस्तथा च द्वारसंक्रमवशेन विधिनिषेधाविति।

निष्कर्ष—

समचतुरस्र के अभाव में दिङ्मूढ कहा जाता है। उपर्युक्त गद्य का निष्कर्ष बिन्दु यह है कि गृहारम्भ में विहित मासों के सम्बन्ध में निषेध व विधिवाक्य दोनों उपलब्ध हैं, इस अवस्था में द्वैधीभाव (निषेध व विधि) होने पर कर्त्ता यदि स्वल्प दोष स्वीकार करता है, तो ठीक है, अन्यथा जिस विषय पर निषेध-विधि वाक्य दोनों उपलब्ध हैं, उसका सर्वथा त्याग ही उचित है। अनियत षड्वर्गादि साधन- विधिविहीन क्षेत्र के गृह-निर्माण में व तृण और लकड़ी के गृह-निर्माण में मास- दोष ग्रहण नहीं किया जाता है, केवल पञ्चाङ्गशुद्धि अपेक्षित है ॥३९३॥

यथोक्तं जगन्मोहने—

सिंहे तु पश्चिमे द्वारं वृषभे चोत्तरं तथा।
कुम्भे च पूर्वदिग्द्वारं वृश्चिके चैव दक्षिणे ॥३९४॥

मकरे पश्चिमद्वारं तुलायां चोत्तरे तथा ।
कर्कटे पूर्वदिग्द्वारं मेषस्थे दक्षिणे रवौ ॥
एवं कृते भवेद्वेश्म शोभनं सौख्यवर्द्धनम् ॥३९५॥

सिंह, मकर के सूर्य में पश्चिम, वृष, तुला के सूर्य में उत्तर, मेष, वृश्चिक के सूर्य में दक्षिण, कर्क, कुम्भ के सूर्य में पूर्वद्वार का गृहनिर्माण शुभ है। इस नियम का पालन करने से सुख और शुभता की वृद्धि होती है ॥३९४-३९५॥

अथात्र निषेधवचनम् –

मेषे वृषे च सूर्ये तु पूर्वद्वारं न शोभनम् ।
कर्काटके च सिंहे वा याम्यद्वारं न शोभनम् ॥३९६॥
तुलायां वृश्चिके चैव वर्ज्यं द्वारन्तु पश्चिमे ।
सूर्ये मकरकुम्भस्थे सौम्यद्वारन्तु निन्दितम् ॥३९७॥

मेष, वृष के सूर्य में पूर्व, कर्क, सिंह के सूर्य में दक्षिण, तुला, वृश्चिक के सूर्य में पश्चिम, मकर, कुम्भ के सूर्य में उत्तर द्वार निषिद्ध है ॥३९६-३९७॥

पाषाणेष्टिगृहादीनि निन्द्यमासे न कारयेत् ।
तृणदारुगृहारम्भे मासदोषो न विद्यते ॥३९८॥

पाषाण व ईंट के गृह का आरम्भ निन्द्य मासों में न करें। तृण व दारु (लकड़ी व खर) के गृह के आरम्भ में मास-दोष नहीं होता है, यह पूर्व में भी कहा गया है ॥३९८॥

वास्तुशास्त्रे –

शस्तं पशुगृहं ज्येष्ठे आश्विने धान्यनीडकम् ।
पानीयं शालिकागेहं चैत्रे धारागृहं तथा ॥३९९॥

ज्येष्ठ में पशु-गृह, आश्विन में धान्य व पक्षी-गृह, चैत्र में पनिसरा विश्राम (छाया) व फुहारा-गृह शुभ होता है ॥३९९॥

व्यवहारोच्चये—

शुक्लपक्षे भवेत्सौख्यं कृष्णे तस्करतो भयम् ।
पूर्णाद्यष्टमीं यावत्पूर्वास्यं वर्जयेद् गृहम् ॥
उत्तरास्यं न कुर्वीत नवम्यादिचतुर्दशीम् ॥४०० ॥
अमावस्याष्टमीं यावत्पश्चिमास्यं विवर्जयेत् ।
नवम्यादौ तथा याम्यं यावच्छुक्लचतुर्दशीम् ॥४०१ ॥
द्वितीया-पञ्चमीमुख्यास्तृतीया च कनिष्ठिका ।
सप्तमी दशमी चैव द्वादश्येकादशी तथा ॥४०२ ॥
त्रयोदशी पञ्चदशीतिथयः स्युः शुभावहाः ।
दारिद्र्यं प्रतिपच्चैव चतुर्थी धनहारिणी ॥४०३ ॥
अष्टम्युच्चाटनं चैव नवमी शस्त्रघातिनी ।
दर्शे राजभयं नूनं भूते दारविनाशनम् ॥४०४ ॥

शुक्लपक्ष में गृहारम्भ होने से सुख की प्राप्ति व कृष्णपक्ष में तस्कर का भय होता है। पूर्णिमा से कृष्णपक्ष की अष्टमी तक पूर्व, कृष्ण नवमी से चतुर्दशी तक उत्तर, अमावस्या से शुक्ल अष्टमी तक पश्चिम और शुक्ल नवमी से चतुर्दशी तक दक्षिण द्वार का गृहारम्भ निषिद्ध है। २ ।३ ।५ ।७ ।१० ।११ ।१२ ।१३ ।१५। ये तिथियाँ गृहारम्भ में शुभ हैं। प्रतिपदा में गृहारम्भ से दरिद्रता, चतुर्थी में धन का नाश, अष्टमी में उद्वास, नवमी में शस्त्रभय, अमावस्या में राजभय और चतुर्दशी में स्त्रीविनाश होता है ॥४००-४०४ ॥

गीर्वाणपूर्वगीर्वाणमन्त्रिणोर्दृश्यमानयोः ।
शुक्लपक्षे दिवा कार्यं न निर्माणं तु रात्रिषु ॥४०५ ॥

गृहारम्भ में गुरु, शुक्र का उदय, शुक्लपक्ष व दिन शुभ हैं; किन्तु रात्रि में गृहारम्भ सदा निषिद्ध है ॥४०५ ॥

ऋक्षोच्चये—

चित्रा शतभिषा स्वाती हस्तः पुष्यः पुनर्वसुः ।
रोहिणी रेवती मूलश्रवणोत्तरफाल्गुनी ॥४०६॥
धनिष्ठा चोत्तराषाढा तथा भाद्रोत्तरान्विता ।
अश्विनी मृगशीर्षञ्च सानुराधा तथैव च ॥४०७॥
वास्तुपूजनमेतेषु नक्षत्रेषु करोति यः ।
स प्राप्नोति नरो लक्ष्मीमिति प्राह पराशरः ॥४०८॥

चित्रा, शतभिषा, स्वाती, हस्त, पुष्य, पुनर्वसु, रोहिणी, रेवती, मूल, श्रवण, उत्तराफाल्गुनी, धनिष्ठा, उत्तराषाढ़, उत्तराभाद्रपद, अश्विनी, मृगशिरा, अनुराधा, इन नक्षत्रों में वास्तुपूजन करने वाला व्यक्ति लक्ष्मी प्राप्त करता है। यह पराशर जी की उक्ति है ॥४०६-४०८॥

मत्स्यपुराणे—

वज्रव्याघातशूलेषु [१]व्यतिपातातिगण्डयोः ।
विष्कुम्भगण्डपरिघवैधृतिषु न कारयेत् ॥४०९॥

वास्तुपूजन या गृहारम्भ, वज्र, व्याघात, शूल, व्यतिपात, अतिगण्ड, विष्कुम्भ, गण्ड, परिघ व वैधृति योगों में न करें ॥४०९॥

श्वेते मैत्रेऽथ माहेन्द्रे गान्धर्वे भगरौहिणौ ।
तथा वैरोचसावित्रमुहूर्त्ते गृहमारभेत् ॥४१०॥

श्वेत, मैत्र माहेन्द्र, गान्धर्व, भग, रौहिणेय, वैरोचन व सावित्र मुहूर्त्तों में गृहारम्भ शुभ है ॥४१०॥

---

१. अत्र व्यतिपातपदेन महाव्यतिपातवैधृती च माह्यौ, सूर्यसिद्धान्ते व्यतिपातत्रयस्य सर्वत्र निषेधात्र व्यवहारे वितर्कः।

लग्नफलम्—

नाशं दिशन्ति मकरालिकुलीरलग्ने
मेषे घटे धनुषि कर्मसु दीर्घसूत्रम् ।
कन्याझषे मिथुनगे ध्रुवमर्थलाभो
ज्योतिर्विदः कलशसिंहवृषेषु सिद्धिम् ॥४११ ॥

मकर, वृश्चिक व कर्क लग्न में गृहारम्भ से नाश, मेष, धनु, तुला में गृहारम्भ से पूर्ति में अनावश्यक विलम्ब, मिथुन, कन्या, मीन में गृहारम्भ से धन-धान्य का लाभ होता है एवं कुम्भ, सिंह व वृष लग्न में आरम्भ से शीघ्र सफलता मिलती है ॥४११ ॥

वास्तुप्रदीपे वास्तुकुण्डली—

लग्नेऽर्के वज्रसम्पातः कोशहानिस्तु शीतगौ ।
मृत्युर्वसुन्धरापुत्रे दारिद्र्यं रविजे तथा ॥४१२ ॥
जीवे धर्मार्थकामाः स्युः सुतोत्पत्तिश्च भार्गवे ।
बुधे शुभाभिवृद्धिः स्याद्राहावस्त्रं प्रवर्तते ॥४१३ ॥

आरम्भ में सूर्य लग्न में हो तो वज्रपात, चन्द्रमा से कोशहानि, भौम से मृत्युभय, शनि से दरिद्रता, जीव से धर्म, अर्थ व काम की सिद्धि, शुक्र से पुत्रोत्पत्ति, बुध से माङ्गलिक कार्य होते हैं। राहु से अस्त्रप्रहार का भय होता है ॥४१२-४१३ ॥

अत्रैव श्रीपतिः—

क्षपाकरे नैव गृहं पुरस्थे कुर्याद्वसेन्नैव तु जातुकर्ता ।
जातानि खान्यानि च पृष्ठसंस्थे यत्नेन तस्मादिदमत्र चिन्त्यम् ॥४१४ ॥

पुरःस्थितत्वं तु गोलद्वारा इति सारसागरे व्याख्यातं यथा—

प्राङ्मुखे गृहे कर्त्तव्ये लग्नस्थश्चन्द्रः पुरःस्थितो भवति। प्रत्यङ्मुखे पृष्ठतः, एवं दक्षिणपश्चिमोत्तरेषु दशम-सप्तम-चतुर्थस्थे चन्द्रे पृष्ठपुरःस्थत्वमिति। दिग्द्वारभक्रमेण सम्मुखादिव्यवस्थितिरिति।

अथात्र महादेवेन व्याख्यातं यथा—

यस्यां दिशि गृहद्वारं विधित्सितं तद्दिङ्नक्षत्रेषु गृहारम्भो न कार्यस्तथा पृष्ठ-दिङ्नक्षत्रेष्वपि। यतोऽग्रस्थे चन्द्रे कर्तुस्तत्र न निवासः, पृष्ठस्थे खन्यभयम्, चौरकृत-भयद्वारं खन्यमिति बोद्धव्यम्।

यथोक्तं ब्रह्मशम्भुना—

धनलाभ: प्रवास: स्यादायुश्चौरभयं क्रमात्।
दक्षाग्रवामपृष्ठस्थे गृहकर्तुर्निशाकरे ॥४१५॥

सारसागर की व्याख्या के अनुसार गोलयुक्ति से पुरः, पृष्ठ चन्द्रमा का निर्णय किया गया है। यथा—

पूर्वमुख द्वार वाले गृह में लग्नस्थ चन्द्रमा सम्मुख, पश्चिम द्वार का पृष्ठस्थ एवं पश्चिममुख द्वार के लिए सप्तमस्थ सम्मुख और पूर्वमुख द्वार के लिए पृष्ठस्थ होगा। इसी प्रकार उत्तर-दक्षिण के लिए चतुर्थ व दशमस्थ चन्द्रमा सामने व पीछे होगा, चक्रानुसार दिग्द्वारभ नक्षत्र से सम्मुखादि का ज्ञान किया जाय। सम्मुखस्थ (गृहद्वार के) चन्द्र में गृहारम्भ से उद्वास, पृष्ठस्थ में तस्करभय होता है।

परन्तु महादेवादि अन्य आचार्यों की व्याख्या सर्वसम्मत है, जो निम्न है—

गृहद्वार के सम्मुखस्थ चन्द्र (वही चन्द्र नक्षत्र होता है, जिसमें मुहूर्त्त किया जाय) उद्वास और पृष्ठस्थ तस्करी (चोरी) कराता है।

कृत्तिका से सात-सात नक्षत्र पूर्वादि दिशाओं में विभाजित हैं। पूर्वद्वार गृह के लिए कृत्तिका से श्लेषा तक सम्मुखस्थ नक्षत्र और पश्चिमाभिमुख द्वार के लिए पृष्ठस्थ नक्षत्र होंगे। इनमें आरम्भ में विहित व गृहपिण्ड-नक्षत्र से प्रयोजन है।

विशेष—

सारसागर के द्वारा गोल रीति से सम्मुख व पृष्ठ भाग चन्द्रमा के लिए कहा गया है। वह समुचित नहीं है; क्योंकि सिद्धान्तस्कन्ध के अनुसार उत्तर और दक्षिण दो ही गोल होता है, इससे उत्तर और दक्षिण मुख गृह के लिए पृष्ठाग्र चन्द्र हो

सकता है। अपेक्षित है चारों दिशाओं के लिए। लग्नादिक स्थानों से पूर्वादि दिशाओं में चन्द्रमा के सम्मुखत्व और पृष्ठत्व का निर्देश किया गया है। इस व्याख्या से गोल द्वारा सम्मुख चन्द्रमा का विचार "स्वतः वदतो व्याघातः" जैसा प्रतीत होता है। अथवा गोलानभिज्ञता प्रतीत होती है। अतः सर्वसम्मत कृत्तिकादि सात-सात नक्षत्रों के विभाग से पूर्वादि दिशाओं में सात-सात नक्षत्र दिग्द्वार नक्षत्र कहे जाते हैं। इन्हीं नक्षत्रों के अनुसार सम्मुख, पृष्ठ चन्द्रमा का विचार करना चाहिए। यह निर्विवाद अर्थ है।

स्पष्टार्थ —

दक्षिण चन्द्र में धनलाभ, सम्मुखस्थ में प्रवास और वामस्थ चन्द्र में आयुष्य की वृद्धि तथा पृष्ठस्थ चन्द्र में तस्करभय होता है। यह निर्गलित अर्थ है ॥४१४-४१५ ॥

कोणद्वारव्यवस्थापनम्—

भानामपि तथैव स्यादधिकं च तदन्तरे ।

धननाशो मृतिर्व्याधिरविनाशो विलोमतः ॥४१६ ॥

[१]ईशानादि कोणों में भी क्रमशः पूर्वादि के नक्षत्रों को समझना चाहिए, जैसे पूर्व के नक्षत्रों को ईशान, दक्षिण के नक्षत्रों को अग्नि, पश्चिम के नक्षत्रों को नैऋत्य व उत्तर के नक्षत्रों को वायव्यकोणीय समझें। दिशा के नक्षत्रों में अपने वाम भाग के कोणों में द्वार का गृहारम्भ करने से धननाश, मृति, व्याधि व विनाश होता है।

जैसे ईशान कोण में द्वार वाले गृह का आरम्भ पूर्व दिशा के नक्षत्रों में हो तो धनादि नाश फल होंगे। इसी प्रकार अन्य कोणों के विषय में भी निश्चय कर कार्यारम्भ करना उचित होगा।,इसके विपरीत शान्तिकारक होता है ॥४१६ ॥

यथात्र ग्रन्थकर्तुर्व्याख्या—

विदिक्षु ईशानादिकोणे गृहद्वारनिर्माणपृच्छायां सप्तशलाकाचक्रे कृत्तिकादि सप्त नक्षत्राणि यानि पूर्वादि-दिक्षु विहितानि तान्येव वामत ईशानादिकोणेष्वपि ज्ञेयानि। फलन्तु पूर्वश्लोके विहितमिति।

---

१. कोणों में भी द्वार कर सकते हैं।

यथोक्तम्—

> शलाकासप्तके देयं कृत्तिकादिक्रमेण च ।
> वामदक्षिणभागं तु प्रशस्तं शान्तिकारकम् ॥४१७॥
>
> अग्रे पृष्ठे न दातव्यं यदीच्छेच्छ्रेयमात्मनः ।
> ऋक्षं चन्द्रस्य वास्तोश्च ह्यग्रे पृष्ठे न शस्यते ॥४१८॥

यद्यपि यह पूर्व में वर्णित है, तथापि स्पष्टार्थ पुनः कहते हैं कि सप्तशलाका-चक्र के अनुसार कृत्तिकादि सात-सात नक्षत्र पूर्वादि दिशाओं के दिग्द्वार नक्षत्र हैं, उनमें सम्मुख व पीछे के नक्षत्रों में गृहारम्भ निषिद्ध व दक्षिण, वाम भाग के नक्षत्रों में विहित है ॥४१७-४१८॥

सप्तशलाकाचक्रम्

पूर्व

कृ. रो. मृ. आ. पुन. पु. श्ले.

उत्तर: भ. अ. रे. उ. भा. पू. भा. श. ध.

दक्षिण: म. पू. फा. उ. फा. ह. चि. स्वा. वि.

श्र. अभि. उ.षा. पू. षा. मू. ज्ये. अनु.

पश्चिम

नक्षत्रायवशेन द्वारविचारो व्यवहारतत्त्वे—

ध्वजेऽजाश्विभे प्राक्परास्यं गृहं स्याद्
उद्ग्दक्षिणास्यन्तु मैत्रादिभे सत् ।
हरौ याम्यसौम्यास्यमैन्द्राहिमैत्रे-
ध्वजाश्विद्विभे पित्र्यभे प्राङ्मुखं च[1] ॥४१९॥

ध्वज आय, रोहिणी, अश्विनी में पूर्व, पश्चिम मुख द्वार का गृहारम्भ होना चाहिए। सिंह आय, अनुराधा, श्लेषा, ज्येष्ठा नक्षत्रों में उत्तर और दक्षिण द्वार का गृहारम्भ शुभ है, गौ (वृषभ) आय, विशाखा, मघा में पूर्व मुख द्वार का गृहारम्भ शुभ है। यह श्लोक पूर्वप्रतिपादित पृष्ठाग्र चन्द्र के प्रतिकूल है, अतः इसे त्रुटिपूर्ण मानना संगत है ॥४१९॥

आयसम्बन्धिनक्षत्राणि—

वृषे वाजिपित्र्यत्रिभे चाश्वियुग्मे
गजेऽङ्घ्रिभात्पञ्चके पित्र्यभं च ।
ततो दिङ्मुखं मित्रभात्षट्सु सार्पे
चतुष्केऽग्निभादन्यथानर्थकृत्स्यात् ॥४२०॥

शतभिषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, अश्विनी, भरणी, ये नक्षत्र वृष आय के हैं। पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद, रेवती, अश्विनी, भरणी, मघा, ये नक्षत्र गज आय के हैं। अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़, उत्तराषाढ़, अभिजित्, श्लेषा, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, ये नक्षत्र दिग्द्वार हैं। इनके विपरीत दिशा का द्वार-कार्य अनर्थकारी होता है ॥४२०॥

लग्नबलं श्रीपतिः—

द्व्यङ्गे स्थिरे वा भवने विलग्ने सौम्यग्रहैर्युक्तनिरीक्षिते च ।
कर्मस्थितैर्वीर्ययुतैश्च सौम्यैर्निर्माणमाहुर्भवनस्य सन्तः ॥४२१॥

---

१. श्लोकसंख्या ४१९ एवं ४२० प्रसङ्ग-विपरीत, अप्रामाणिक तथा युक्तिहीन प्रतीत होते हैं

स्थिर व द्विस्वभाव लग्न में शुभ ग्रह बुध या गुरु हों और बलवान् शुभ-ग्रह दशम भाव में हों, तो गृह का निर्माण शुभ होता है। यह मन्त्री की उक्ति है ॥४२१ ॥

रत्नमालायाम्—

शुभकेन्द्र-निधनस्थिरोदये सौम्यवर्गयुतभेऽङ्गगेऽपि च ।
सन्निवेश उदितो हि वास्तुनः सूरिभिर्न तु चरोदये क्वचित् ॥४२२ ॥

केन्द्र व निधन (अष्टम) स्थान, शुद्ध, सौम्य, षड्वर्गयुक्त, स्थिर व द्विस्वभाव लग्न में गृहारम्भ शुभ होता है, किन्तु चर लग्न का त्याग ही विद्वानों ने स्वीकार किया है ॥४२२ ॥

दैवज्ञवल्लभे—

पापैस्त्रिषष्ठायगतैस्त्रिकोणकेन्द्राश्रितैः साधुभिरालयस्य ।
वदन्ति निर्माणमिहाष्टमस्थः क्रूरस्तु कर्तुर्मरणं करोति ॥४२३ ॥

पापग्रह ३, ६, ११ स्थानों में, शुभ-ग्रह केन्द्र, त्रिकोण में हों, तो गृह का निर्माण शुभ है; परन्तु अष्टमस्थ क्रूरग्रह मृत्यु देते हैं ॥४२३ ॥

अन्यच्चापि तत्रैव—

रवौ गृहेशो गृहिणी शशांके धनं सिते देवगुरौ च सौख्यम् ।
विनाशमायाति बलेन हीने नीचस्थिते वास्तुमुपागते वा ॥४२४ ॥

गृह में सूर्य गृहस्वामी, चन्द्रमा गृहिणी, शुक्र धन, गुरु सुखकारक हैं, यदि ये ग्रह बली हों, तो अपने-अपने वर्ग को सुखी बनाते हैं, अन्यथा नीच, शत्रु-राशि में व अस्त हों, तो अपने से सम्बन्धित व्यक्ति की हानि करते हैं ॥४२४ ॥

अपरत्र—

उदये गुरुरस्तगृहे शशिजः सहजेऽपि शनौ रिपुगे च रवौ ।
जलगश्च सितो भवनस्य तदा शरदां शतमायुरुशन्ति बुधाः ॥४२५ ॥

लग्न में गुरु, सातवें बुध, चौथे शुक्र, तीसरे शनि, छठवें सूर्य के होने पर गृहारम्भ से १०० सौ वर्ष की आयु हो जाती है ॥४२५ ॥

अन्यच्च—

लग्ने भृगुः पुत्रगतश्च जीवः षष्ठे कुजस्तिग्मरुचिस्तृतीये ।

निवेशने यस्य गृहस्य तस्य शतद्वयं तिष्ठति वत्सराणाम् ॥४२६ ॥

लग्न में शुक्र, पाँचवे गुरु, छठवें मंगल, तीसरे सूर्य में गृहारम्भ से दो सौ वर्ष की आयु होती है ॥४२६ ॥

अन्यच्च—

शशांकजीवौ खरसात्तलस्थौ कुजार्कजौ लाभगतौ च यस्य ।

प्रारम्भकाले भवनस्य तस्य स्थितिर्निरुक्ता शरदामशीतिः ॥४२७ ॥

गृहारम्भ में चन्द्रमा दशवें, गुरु चौथे, मंगल, शनिश्चर लाभ में हों, तो गृह-निर्माण में अस्सी वर्ष की आयु होती है ॥४२७ ॥

अपरञ्च—

स्वोच्चवर्तिनि भृगौ विलग्नगे देवमन्त्रिणि रसातलेऽथवा ।

स्वोच्चगे रविसुतेऽथवायगे स्यात्स्थितिः खलु चिरं श्रिया युता ॥४२८ ॥

गृहारम्भ के समय, स्वोच्च (अपने उच्च) का शुक्र लग्न में या अपने उच्च का गुरु चतुर्थ में व शनि सोच्च का लाभ में हो, तो विभूति (ऐश्वर्य) से परिपूर्ण (सम्पन्न) गृह चिरस्थायी होता है। इसमें दो योग हैं—शुक्र-शनि व गुरु-शनि से ॥४२९ ॥

यथात्र रामः —

स्वोच्चे शुक्रे लग्नगे वा गुरौ वेश्मगतेऽथवा।

शनौ स्वोच्चे लाभगे च लक्ष्म्या युक्तं चिरं गृहम् ॥

अपरञ्च —

स्वर्क्षे चन्द्रे लग्नगतेऽथ जीवे लक्ष्मीवासस्तद्गृहे भूरिकालम् ।

मित्रस्वोच्चांशस्थितैः खेचरैश्च नीचारिस्थैर्जायते निर्धनत्वम् ॥४२९ ॥

अपने राशि का चन्द्रमा गुरु के साथ लग्न में हो, तो गृहारम्भ से उस घर में चिरकाल तक लक्ष्मी निवास करती हैं । यदि शत्रु, नीच, अस्त हों, तो निर्धन बनाते हैं ॥४२९ ॥

यथोक्तं रत्नमालायाम् –

स्वर्क्षगे हिमगौ लग्ने सुरेज्ये केन्द्रमाश्रिते ।
धन-धान्यसुखारोग्ययुतं धामचिरं भवेत् ॥ इति ॥

परहस्तगतगृहयोगः –

एकोऽपि नूनं परभागवर्ती वियद्द्युसंस्थः खचरोऽब्दमध्ये ।
करोति गेहं परहस्तयातं स्याद्दुर्बलः स्वादिह वर्णनाथः ॥४३० ॥

गृहारम्भ में एक भी परभाग (परनवांश) में रहने वाला ग्रह सातवें या दशवें हो और गृहेश के वर्ण का स्वामी निर्बल हो, तो निश्चय वह गृह एक वर्ष के अन्दर दूसरे के हाथ लग जाय। परभाग से शत्रु का अंश होता है ॥४३० ॥

अन्यच्च वैशिष्ट्यं वसिष्ठेनोक्तम्–

इज्योत्तरात्रयाहीन्दुविष्णुधातृजलोडुषु ।
गुरुणा सहितेष्वेषु कृतं गेहं श्रिया युतम् ॥४३१ ॥

पुष्य, तीनों उत्तरा, श्लेषा, मृगशिरा, श्रवण, रोहिणी व पूर्वाषाढ़ नक्षत्रों में से किसी के साथ गुरु व गुरु का दिन हो और उसमें गृहारम्भ किया जाय, तो वह घर चिरकाल तक लक्ष्मी से सुवासित रहता है ॥४३१ ॥

यथात्र रामः—

पुष्यध्रुवेन्दुहरिसार्पजलैः सजीवैः ।
तद्वासरेण च कृतं सुतराज्यदं स्यात् ॥

अपरञ्च वशिष्ठः–

द्विदैवत्वाष्ट्रवारीश- [१]रुद्रादितिवसूडुषु ।
शुक्रयुक्तेषु तद्वारे कृतं गेहं धनप्रदम् ॥४३२ ॥

---

१. दास्ररुद्रवसूडुषु इत्येव पाठः साधुः ।

विशाखा-चित्रा-शतभिषा-आर्द्रा-पुनर्वसु-धनिष्ठा का शुक्र व शुक्र का दिन गृहारम्भ में धन-धान्य देते हैं ॥४३२ ॥

अत्र राम :—

द्वीशाश्विततक्षवसुपाशिशिवैः सशुक्रैः
वारे च सितस्य गृहं धनधान्यदं स्यात्
हस्तार्यमत्वाष्ट्रदस्रचतुरास्येन्दुभेषु च
बुधेन सहितेष्वेषु धनपुत्रसुखप्रदम् ॥४३३ ॥

हस्त, अश्विनी, चित्रा, उत्तराफाल्गुनी, रोहिणी व मृगशिरा में से किसी में बुध हो व बुध का दिन हो, तो आरम्भ गृह धन-पुत्र का सुख देता है ॥४३३ ॥

अग्निभयदयोगः—

पितृमूलेज्यभाग्यार्कपौष्णभेषु च यत्कृतम् ।
कुजेन सहितेष्वेषु गृहं दह्येत चाग्निना ॥४३४ ॥

मघा-मूल-पुष्य-पूर्वाफाल्गुनी-हस्त-रेवती नक्षत्रों में से कोई भी नक्षत्र मंगल से युक्त हो व मंगल का दिन हो, तो गृहारम्भ अग्निभय देता है ॥४३४ ॥

अपरञ्चात्र —

अग्निनक्षत्रगे सूर्ये चन्द्रे वा तत्र संस्थिते ।
निर्मितं मन्दिरं नूनं चाग्निना दह्यतेऽचिरात् ॥४३५ ॥

अग्निसंज्ञक नक्षत्रों में सूर्य या चन्द्रमा हो, तो उस नक्षत्र में निर्मित गृह शीघ्र अग्नि से जल जाता है ।अग्निसंज्ञक नक्षत्र विशाखा, कृत्तिका हैं ॥४३५ ॥

अत्र नारदेनाप्युक्तं यथा—

मूलं च रेवती चैव कृत्तिकाषाढमेव च ।
पूर्वाफाल्गुनिहस्तश्च मघा चैवेति सप्तके ॥

एषु भौमेन युक्तेषु वारे तस्यैव वेश्म यत् ।
अग्निना दह्यते कृत्स्नं पुत्रनाशश्च जायते ॥

अत्रैव वशिष्ठोऽपि—

अग्निनक्षत्रगे सूर्ये चन्द्रे वा संस्थिते यदि ।
निर्मितं मन्दिरं नूलमग्निना दह्यतेऽचिरात ॥

यक्षादिभययोगः —

अजपाद्द्वितये याम्यमित्रेन्द्रानिलभेषु च ।
यत्कृतं शनिसंयुक्ते गृह्यते यक्षराक्षसैः ॥४३६ ॥

पूर्वाभाद्रपद-उत्तराभाद्रपद-भरणी-अनुराधा-ज्येष्ठा-स्वाती के साथ शनि व शनि का दिन गृहारम्भ में यक्ष-राक्षसादि पीड़ा देते हैं ॥४३६ ॥

अत्रैव नारदः —

ज्येष्ठाऽनुराधिके चैव भरणी स्वातिपूर्वभे ।
धनिष्ठास्वपि ऋक्षेषु शनितिष्ठे दिनस्य च ॥
कृपणो नामतः प्रोक्तो धनधान्यादिसंयुतः ।
पुत्रो जातोऽथवा तस्मिन् गृह्यते यक्षराक्षसैः ॥ इति ।

गृहारम्भे विशेषः —

अमृद्वेदिकां स्वर्णरत्नधान्यशैवालसंयुताम् ।
श्रवणाषाढयोश्चैव रोहिण्यां चोत्तरात्रये ॥४३७ ॥
गुरुवारे कृतं वेश्म राजयोगमिहोच्यते ।
तद्गृहे जातपुत्रस्य राज्यं भवति निश्चयात् ॥४३८ ॥
अश्विनीहस्ततारासु विशाखाभाद्रचित्रके ।
धनिष्ठाद्वितये शुक्रसंयुक्ते शुक्रवासरे ॥४३९ ॥

गृहं नाटकशालाख्यं देवागारकृतं शुभम् ।
तद्वेश्मनि प्रजातस्तु कुबेरसदृशो भवेत् ॥४४० ॥

श्रवण, उत्तराषाढ़, रोहिणी एवं तीनों उत्तरा में गुरु व गुरु का दिन गृह के आरम्भ में राजयोग बनाते हैं, अतः इस घर में उत्पन्न बालक निश्चित राज्य करता है ।

अश्विनी, हस्त, तीनों उत्तरा, विशाखा, उत्तराभाद्रपद, चित्रा, धनिष्ठा व शतभिषा नक्षत्रों में शुक्र व शुक्र के दिन में नाटकशाला, देवगृह (मन्दिर) तथा मानवनिवास (गृह) बनाना चाहिए। इस गृह में उत्पन्न बालक कुबेर जैसा सर्वैश्वर्य से विभूषित होता है ॥४३७-४४० ॥

वशिष्ठमतेन लग्नबलम्—

गुरौ सिते वा सौम्ये वा गृहनिर्माणलग्नगे ।
तद्वर्गे वा कृतं गेहं धन-धान्यसुखप्रदम् ॥४४१ ॥
स्वतुङ्गे गुरौ शुक्रे बुधे वा यदि लग्नये ।
तद्वर्गे वा कृतं गेहं सर्वसम्पत्प्रदं सदा ॥४४२ ॥
यत्रैकादशगे सौम्ये खेटे चन्द्रेऽथवा गुरौ ।
अशत्रुनीचराशौ च तद्गृहं भूरिधामदम् ॥४४३ ॥
शुभे केन्द्रे त्रिकोणस्थे शत्रुनीचांशवर्जिते ।
सदा लाभप्रदं गेहमुच्चगे भूरिलाभदम् ॥४४४ ॥
शुभद्वये त्रयो वापि यस्मिन्निर्माणलग्नगे ।
बहुकालस्थितं गेहं दारपुत्रधनप्रदम् ॥४४५ ॥
स्थिरराशौ गते सूर्ये चरराशिगतेऽपि वा ।
गृहारम्भः सदा कार्यो द्विस्वभावे कदापि न ॥४४६ ॥

४४१से ४४६ तक सभी श्लोक स्पष्टार्थ हैं, और लग्नबल विषय में पूर्व-श्लोकों में अनेकानेक योग उद्धृत हैं। तब भी इन पद्यों के उल्लेख में पुनरुक्ति

इसलिए नहीं मानी जायेंगी कि शुभोक्ति-स्मरणार्थ पुनरावृत्ति होती रहती है और मंगलकारिणी भी होती है। तथापि यहाँ उद्धृत पद्यों में पूर्वापेक्षया कोई न कोई विशेषता है ॥४४१-४४६ ॥

गृहारम्भे शंकुस्थापने नारदः—

गृहमध्ये हस्तमात्रे गर्भन्यासाय विन्यसेत् ।
वास्त्वायामदलं नाभिस्तस्मादप्यङ्गुलत्रयम् ॥४४७ ॥
कुक्षिस्तस्मिन्न्यसेच्छङ्कुं पुत्रपौत्रप्रवर्द्धनम् ।
चतुर्दिशं कृतं मध्ये शङ्कुं तत्रैव विन्यसेत् ॥४४८ ॥

घर के दीर्घ-विस्तार के मध्य में वास्तु-पुरुष की नाभि होती है, नाभि से ऊपर उरःस्थल (वक्षस्थल) की दिशा में ३ अंगुल कुक्षि का स्थान है, उसी कुक्षि में शंकु-रोपण (स्थापन) करने से उस गृह में पुत्र-पौत्र आदि की वृद्धि होती है। चतुर्दिक्स्पष्टसाधन करके ठीक नाभि का ज्ञान कर कुंक्षि भाग में ही शंकुरोपण करना उपयुक्त है ॥४४७-४४८ ॥

शङ्कुविषये पुनः—

चतुःशालाधिके त्वेवं स्थापयेच्छङ्कुमुत्तमम्[१] ।
वितस्तिस्तत्र शङ्कुः स्यात्सर्वेषां सर्वदा भृशम् ॥४४९ ॥
गन्धपुष्पाम्बरस्रग्वै धूपदीपैरलङ्कृतम् ।
रक्तचन्दनबिल्वाम्रखादिरार्जुनवै नवम् ॥४५० ॥

---

१. शङ्कुलक्षणम्—

स्निग्धादिभूभागसमुत्थितानां न्यग्रोधबिल्वद्रुमखादिराणाम्।
शमीवटोदुम्बरदेवदारुक्षीरिस्वदेशोत्थफलद्रुमाणाम् ॥
उपोषितः शिल्पिजनस्तथैषां मध्यात्तु तीक्ष्णेन कुठारकेण।
भित्वा ततो दिक्पतिनोत्तरस्यां शुभे च लग्ने परिगृह्य शङ्कुम् ॥
नीत्वा न्यसेत्तांश्च गृहे तु तावद्-यावत्प्रतिष्ठासमयोऽस्य शङ्कोः ॥

नीपकारञ्च कुटपं शालनिम्बतरूद्भवम् ।
रक्तसारविशालत्वक्चन्दनागरुसम्भवम् ॥४५१॥
शङ्कुं त्रिधा विभज्याद्यं चतुरस्त्रं द्वितीयकम् ।
अष्टास्त्रकं तृतीयांशं वृत्तं सूच्यग्रकं ऋजु ॥४५२॥

शंकु के लिए काष्ठ—

लालचन्दन-बिल्व-खैर-अर्जुन-कदम्ब-सर्ज-शाल-वट-गूलर-आम व देवदारु प्रभृति देववृक्षों का १/२ हाथ का नूतन सीधा शंकु होना चाहिए। जो तीन भागों मे विभक्त हो (परन्तु अलग न हो) । प्रथम भाग चतुष्कोण, द्वितीय आठ कोण, तृतीय भाग गोल, सूच्यग्र-समान तीक्ष्ण हो। उसे चन्दन-हरिद्रा-पुष्प-दूर्वा-माला-वस्त्र से अलङ्कृत करके समन्त्रक वास्तुपुरुष की निर्दिष्ट कुक्षि में स्थापन करे ॥४४९-४५२॥

प्रकारान्तर से ब्राह्मणादि वर्णों के लिए क्रमशः २४, २०, १६, १२ अंगुल का शंकु होना चाहिए। स्थापन के समय ब्राह्मण शंकु को शिर, क्षत्रिय वक्षस्थल, वैश्य दोनों ऊरु व शूद्र दोनों चरण से स्पर्श करके निवेश करें। यहाँ पर शंकु का मान यथोपलब्धि के अनुसार किया जाय; किन्तु १/२ से न्यून कथमपि ग्राह्य नहीं होगा।

नन्देति सूक्तिः कथितैशकोणे हुताशनाख्ये सुभगेति चान्या।
सुमङ्गली नैऋतभागसंस्था भद्रंकरी मारुतकोणयाता॥
वृषाश्वपुन्नागपदाङ्कितानां नन्दादिकानां क्रमशः शिलानाम्।
अखण्डितानां सुदृढीकृतानां सुलक्षणानां ग्रहणं निरुक्तम्॥
कूर्मोऽथ शेषो हि जनार्दनः श्रीर्ध्रुवश्च मध्ये भवनस्य संस्थाः।
द्वाराधिपा दिक्पतयो गजाश्च सम्पूजनीया बलिभिः सुमन्त्रैः॥
स्नानार्घ्यमाल्याम्बरधूपलेपैर्बल्योपहारैः प्रतिपूज्य शङ्कुम्।
ध्रुवे शिलायाश्च ततः खनित्वा शङ्कुं प्रतिष्ठाप्य तथा च कुम्भम्॥
लाजाक्षतव्रीहिसपञ्चगव्यं मध्वाज्ययाप्तं परिपूर्य सम्यक्।
ऋग्भिस्तथैशं विधिवत्प्रकुर्याद् होमो ध्रुवादुत्तरतस्तु कार्यम्॥ इति।

यथाह नारायणः—

नाकालेऽत्र निधेय उक्ततरुजोऽभ्यात् सिद्ध-विंशाऽग्रहः
कृत्संख्याङ्गुलकस्त्रिभागचतुरस्त्राग्रस्त्रकानस्रकः ।
कं वक्षस्थलमूरुपादयुगलं संस्पृश्य विप्रादिको
रेखां सूत्रवदग्निजेन रचयेत्तद्वच्च भित्तेः शिलाः ॥

अन्यच्च—

करप्रमाणं परतश्चतस्रस्तदर्धमानेन ततोऽनुगृह्यः । ।इति ।

शङ्कुरोपणे मुहूर्तः—

मृदुध्रुवक्षिप्रभेषु रिक्तामावर्जितेषु च ।
व्यर्कारवारलग्नेषु क्रूरे चाष्टमवर्जिते ॥४५३ ॥

न नैधनोदये कर्तुरष्टमे शुद्धिसंयुते ।
स्थिरलग्ने स्थिरांशे च गृहज्ञार्चनपूर्वकम् ॥४५४ ॥

शुभवारे शुभांशे च महादोषविवर्जिते ।
पुण्याहघोषवादित्रैर्विप्राशीर्वचनैः सह ॥४५५ ॥

त्रिकोणकेन्द्रस्वत्र्याये शुभैः षट्त्र्यायगैः परैः ।
अलग्नान्त्यारिचन्द्रेण स्थापयेच्छंकुमुत्तमम् ॥
शुभैः यात्रोक्तशकुनैर्निर्मितैर्मङ्गलस्वनैः ॥४५६ ॥

शंकु-स्थापन के लिए मुहूर्त्त—

मृगशिरा, रेवती, चित्रा, अनुराधा, हस्त, अश्विनी, पुष्य, अभिजित्, तीनों उत्तरा, रोहिणी, इन नक्षत्रों में अमा, रिक्ता तिथि, रवि, मंगल का दिन, अंश व लग्न छोड़कर अष्टम-स्थान शुद्ध, जन्म लग्न, जन्म राशि से अष्टम राशि, लग्न के विना स्थिर लग्न, स्थिर राशि, अंश, शुभ वार, शुभांश में महापातादि दोष-रहित ५ ।९ ।१ ।४ ।७ ।१० ।२ ।३ ।११ । स्थानों में शुभ ग्रह, ३ ।६ ।११ । में पापग्रह, १ ।६ ।१२ स्थानों से भिन्न स्थानों में चन्द्र के समय पुण्याहवाचन-पूर्वक मांगलिक वाद्य-घोषों एवं यात्रोक्त शुभ शकुनों के साथ विप्राशीर्वचनों से शंकु का रोपण शुभ होता है ॥४५३-४५६ ॥

अत्र शंकुविषये लल्लः –

[1]अधोमुखस्थैर्विदधीत खातं शिलास्तथैवोर्ध्वमुखैश्च शश्वत् ।
तिर्यङ्मुखैर्द्वारकपाटयानं गृहप्रवेशो मृदुभिर्ध्रुवैश्च ॥४५७॥

अधोमुख नक्षत्रों में भूमि-शोधन के लिए खात, ऊर्ध्वमुख नक्षत्रों में शिला-स्थापन व तिर्यङ्मुख नक्षत्रों में द्वार, कपाट व यात्रा तथा मृगशिरा, रेवती, चित्रा, अनुराधा, तीनों उत्तरा, रोहिणी में गृहप्रवेश शुभ होता है ॥४५७॥

अत्रैव गर्गोऽपि –

अधोमुखैस्तु नक्षत्रैः कर्त्तव्यं भूमिशोधनम् ।
मृदुभिर्ध्रुवभैश्चैव प्रवेशोऽपूर्वसंज्ञकः ॥४५८॥

अधोमुख नक्षत्रों में भूमिशोधन व मृदु, ध्रुवसंज्ञक नक्षत्रों में अपूर्व (प्रथम) प्रवेश शुभ होता है ॥४५८॥

१.अध ऊर्ध्वतिर्यग्नक्षत्राणि (नारदोक्तं यथा) –
पूर्वात्रयाग्निमूलाहिद्विदैवत्यमघान्तकम् ।
अधोमुखन्तु नवकं भानां तत्र विधीयते ॥
विलप्रवेशगणितभूतद्यूतविलेखनम् ।
खननं शिल्पकूपादिनिःक्षेपोद्धरणादि यत् ॥
मित्रेन्दुत्वाष्ट्रहस्तेन्द्रादित्यान्त्याश्विनवायुभम् । (आश्विन = अश्विनी)
तिर्यङ्मुखास्यं नवकं भानां तत्र विधीयते ॥
हलप्रवाहगमनं गन्त्री यन्त्री खरोष्ट्रकम् ।
खरगोरथनौयानं लुलाय-हयकर्म च ॥
ब्रह्मविष्णुमहेशार्यवसुपाश्युत्तरात्रयम् ।(आर्य = पुष्य)
ऊर्ध्वास्यं नवकं भानां तेषु कर्म विधीयते ॥
पुरहर्म्यगृहारम्भवारणध्वजकर्म च ।
प्रासादवेदिकोद्यानप्राकाराद्यं च सिद्धये ॥

माण्डव्य: —

सूत्रशङ्कुशिलाद्वारतुलाच्छादनपूर्वकम् ।
कार्यं तद्धि प्रतिष्ठोक्ते धिष्ण्ये वारे तिथौ तथा ॥४५९ ॥

वास्तुपूजन में विहित नक्षत्र, तिथि व वार में सूत्रप्रसारण, शंकुरोपण, शिलान्यास, तुलाच्छादन (द्वार के ऊपर का काष्ठ या लौह, जिसके ऊपर भित्ति जोड़ी जाती है) आदि सभी कार्य किये जाते हैं ॥४५९ ॥

ज्योति:प्रकाशे—

अस्तदोषोऽत्र न ग्राह्य: प्रतिदैवसिको बुधै: ।
नास्तदोष: सदा भानोर्न मैत्रेऽब्जस्य नीचता ॥४६० ॥

[१]देवता के वार्षिकोत्सव में अस्त-दोष का विचार नहीं होता है व गुरु, शुक्र के दोष के समान सूर्य के अस्त का दोष व अनुराधा में चन्द्रमा के नीचत्व का दोष नहीं होता है ॥४६० ॥

बृहत्संहितायाम्—

दक्षिणपूर्वे कोणे कृत्वा पूजां शिलां न्यसेत् प्रथमम् ।
शेषा: प्रदक्षिणेन स्तम्भाश्चैवं समुत्थाप्या:[२] ॥४६१ ॥

यथा पद्धति-विधि पञ्चाङ्ग पूजनोपरान्त पूजित शिलाओं में प्रथम शिला अग्निकोण में स्थापित करके अन्य शिलाओं को प्रदक्षिण क्रम से स्थापित करना चाहिए और उसी क्रम से स्तम्भों का रोपण (स्थापन) भी उचित है ॥४६१ ॥

गर्गोऽपि—

शिलाविन्यासकाले तु सम्भारांश्चोपकल्पयेत् ।
धूपं सुमनस: सर्पि: श्वेतं च मधुरोचना ॥४६२ ॥

१. किसी भी वार्षिकोत्सव में (देवता-शब्द उपलक्षण है)।

२. केचिदुत्तरपूर्वे कोणे कृत्वा पूजां शिलां न्यसेत्प्रथममिति पठन्ति। उत्तरपूर्वकोणे चैशानकोणे शिलान्यासं कृत्वा तत: शेषा: प्रदक्षिणक्रमेणेति यथोक्तवदिति, एतल्लोके स्थपतिषु दृश्यते।

आमिषं च तथा भक्ष्यं फलानि विविधानि च ।
क्षीरोदनं पूर्णकुम्भं चतुष्कोणेषु विन्यसेत् ॥४६३॥

शिलान्यास के समय पद्धति के अनुसार समन्त्रक भक्ष्य, भोज्य, लेप्य, सुगन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, फल-पुष्पोपहार से पूजन व अलंकृत करके स्तम्भों के साथ चार पूर्ण कलश स्थापित करें ॥४६२-४६३॥

नानाविधानि भक्ष्याणि फलानि विविधानि च ।
हुत्वाग्निं विधिवत्काले मुहूर्ते चोपपादयेत् ॥४६४॥
गृहकोणेषु सर्वेषु पूजां कृत्वा विधानतः ।
ततः पुण्याहघोषेण शिलान्यासं प्रकल्पयेत् ॥४६५॥
ईशानमादितः कृत्वा प्रादक्षिण्येन विन्यसेत् ।
अनेनैव विधानेन स्तम्भद्वाराणि रोपयेत्[१] ॥४६६॥

स्पष्टार्थः ॥४६४-४६६॥

वास्तुपूजाविधानम् —

वास्तुविद्याविधानज्ञः कारयेत्सुसमाहितः ।
शिलान्यासस्य मन्त्रोऽयं निर्दिष्टो मुनिभिः पुरा ॥४६७॥

वास्तु-विद्या के विशेषज्ञों को सावधानी से मुनियों द्वारा पूर्व-प्रतिपादित अग्रिम मन्त्रों से शिलान्यास कराना चाहिए ॥४६७॥

मन्त्रो यथा—

नन्दे नन्दय वाशिष्ठे वसुभिश्चाम्बुभिः प्रजाः ।
जये भार्गवदायादे प्रजानां भद्रमावह ॥४६८॥
पूर्णेऽङ्गिरसदायादे पूर्णकामाः प्रजाः कुरु ।
भद्रे काश्यपदायादे प्रजानां भद्रमावह ॥४६९॥

१. गर्ग के वाक्य से ईशानादि क्रम सूचित है; किन्तु कार्यसिद्धि, बहुज्ञता से अग्निकोण का पक्ष विवादमुक्त है।

सर्वबीजसमायुक्ते गृहे काश्यपि रम्यताम् ।
पूजिते परमाचार्यैर्गन्धैर्माल्यैरलङ्कृते ॥४७० ॥
भवभूतिकरी देवी गृहे भार्गवि रम्यताम् ।
अव्यङ्गये चाक्षते पूर्णे मुनेरंगिरसः सुते ॥४७१ ॥
इष्टके त्वं प्रयच्छेष्टमिष्टं च गृहिणां कुरु ।
ग्रामस्वामि-पुरस्वामि-गृहस्वामिपरिग्रहे ॥
मनुष्यपशुहस्त्यश्वधनवृद्धिकरी भव ॥४७२ ॥

उपर्युक्त ५ श्लोक शिलाओं के पूजन के मन्त्र व प्रार्थना हैं ॥४६८-४७२ ॥

अथ बृहन्नारदीये वास्तुपूजा—

वास्तुपूजाविधिं वक्ष्ये नववेश्मप्रवेशने ।
हस्तमात्रं लिखेद्रेखां दशपूर्वां दशोत्तराम् ॥४७३ ॥
गृहमध्ये तण्डुलोपर्येकाशीतिपदं भवेत् ।
पञ्चोत्तरान् वक्ष्यमाणांश्चत्वारिंशत्सुरान् न्यसेत् ॥४७४ ॥
वास्तुज्ञो वास्तुमन्त्रेण गन्धपुष्पाक्षतादिभिः ।
प्रणवेनार्चयेद्वापि अथवा स्वस्वनामभिः ॥४७५ ॥
शुक्लं वस्त्रयुगं दद्याद् धूपदीपफलैः सह ।
अपूपैर्भूरिनैवेद्यैर्वाद्यैः सह समर्पयेत् ॥४७६ ॥
ताम्बूलं च ततो दद्याद् देवेभ्यश्च पृथक् पृथक् ।
दत्वा पुष्पाञ्जलिं चैव प्रार्थयेद्वास्तुपूरुषम् ॥४७७ ॥

शुभे कर्मणि यन्मण्डपादिकरणं तदेव गृहादिष्वपि विहितम् । वास्तुबलिः स्याद्रक्षाविघ्नोपशान्तिसम्पद्भ्यः ॥

पलमानसुवर्णेन तदर्द्धार्द्धेन वा पुनः ।
प्रतिमां वास्तुपुरुषस्य द्विभुजां च त्रिनेत्रकाम् ॥४७८॥
शयनाकारमित्येवं रक्तवस्त्रेण वेष्टयेत् ।
तिलतण्डुलसम्मिश्रं मण्डले गन्धपुष्पकैः ॥४७९॥
वास्तुमन्त्रेण वास्तुज्ञो दूर्वादध्यक्षतादिभिः ।
ब्रह्ममन्त्रेण वा श्वेतकुम्भाग्रे च प्रदापयेत् ॥४८०॥
आवाहनादयः सर्वेऽप्युपचारास्तु षोडश ।
नैवेद्यं च विधानेन वाद्यैः सह समर्पयेत् ॥४८१॥
ताम्बूलं च ततः कर्त्ता प्रदद्याद्वास्तुपूरुषे ।
वास्तुपुरुष ! नमस्तेऽस्तु भूशय्याभिरतप्रभो ॥
मद्गृहं धनधान्यादिसमृद्धं कुरु सर्वदा ॥४८२॥
इति प्रार्थ्य यथाशक्त्या दक्षिणामर्चकाय च ।
नवग्रहमखं कुर्याद् यथावित्तानुसारतः ॥४८३॥
वास्तुहोमं प्रकुर्वीत पायसेन गुडादिभिः ।
अपामार्गसमिद्भिश्च पालाशैर्वापि खादिरैः ॥४८४॥
तिलाक्षतैर्हुनेदष्टसहस्रं वाष्टशताधिकम् ।
व्याहृतिभिस्तिलैर्हुत्वा पूर्णाहुतिमतन्द्रितः ॥४८५॥
अलङ्कृत्य पुनः सम्यग् गन्धपुष्पादिभिस्तथा ।
घोषं च शान्तिपं दुर्गा-श्री-रुद्र-सूक्त-पौरुषम् ॥४८६॥
पञ्चब्रह्मादिभिर्मन्त्रैर्नवं वेश्म तु मार्जयेत् ।
गृहीत्वा सुकृतं तेभ्यो दक्षिणां च प्रदापयेत् ॥
ब्राह्मणान् भोजयेत्पश्चात् स्वयं भुञ्जीत बन्धुभिः ॥४८७॥
एवं यः कुरुते सम्यग् गृहशान्तिं नृपोत्तमः ।
आरोग्यं पुत्रलाभं च धनं धान्यं लभेन्नरः ॥४८८॥

अकृत्वा वास्तुपूजां यः प्रविशेन्नवमन्दिरम् ।
रोगान् नानाविधान् क्लेशान् प्राप्नुयात्सर्वसङ्कटम् ॥८८९॥
अकपाटमनाच्छन्नमदत्तबलिभोजनम् ।
गृहं न प्रविशेदेव विपदामालयं हि तत् ॥८९०॥

एकाशीतिपदनिर्माणं तत्रत्यदेवतासन्निवेशविभागश्च प्रागेवास्माभिर्निरूपितः ।

॥ इति श्रीमहाराजाधिराजश्रीटोडरमल्लविरचिते टोडरानन्दे
वास्तुसौख्यं सम्पूर्णम् ॥



अथ परिशिष्टम्

वास्तुनि हस्तप्रमाणेऽधिकारिणो विश्वकर्मप्रकाशे—

स्वामिहस्तप्रमाणेन ज्येष्ठपत्नीकरेण वा ।
गर्भमानं भवेद्गेहं नृणां प्रोक्तं पुरातनैः ॥

हस्तप्रमाणम्—

षडक्षतै राज्यमिहाङ्गुलं भवेत्सप्ताक्षतैर्वैष्णवमैशमङ्गुलम् ।
यवोदरैरष्टभिरत्र तत्करो जिनाङ्गुलैस्तैश्च धनुश्चतुष्कम् ॥

छः अक्षत का राज्य, सात अक्षत का वैष्णव-ईश अंगुल व आठ यवोदर का सर्वव्यापक अंगुल होना चाहिए, सर्वत्र चौबीस अंगुल का हाथ व चार हाथ का धनुष होता है।

उपर्युक्त अंगुलों का उपयोग—

प्रासादकुड्यादिषु पीठवेदिका द्विजालयेषु स्मृतराज्यमङ्गुलम् ।
जलाशयारामविधौ नृपालये विधौ हितं वैष्णवमन्यदन्यगम् ॥

विश्वकर्मप्रकाशे यथा—

अनामिकान्तं हस्तः स्यादूर्ध्वबाह्वोः शरांशकः ।
कनिष्ठिकामध्यमाभ्यां वा प्रमाणं नैव कारयेत् ॥

केहुनी के जोड़ से अनामिकापर्यन्त हाथ का प्रमाण है। कनिष्ठा व मध्यमा ग्राह्य नहीं हैं।

अथ गृहचिन्तामणौ—

गृहे मृन्मये मानमन्तःप्रमाणं तथा चेष्टिकाभित्तिभागं तदर्द्धम् ।
तथा चोत्पलानां सभित्त्या सदैव प्रकुर्याद् बुधश्चान्यथा वित्तनाशम् ॥

मिट्टी की दीवार के भीतर पिण्ड, ईंट में आधा व पत्थर की दीवार पिण्ड के अन्दर की जाती है।

अत्रैव विशेषः—

अङ्गेषु वङ्गेषु कलिङ्गदेशे सौराष्ट्रदेशे मगमध्यदेशे[१]।
मरुज्जले सिन्धुगिरिप्रदेशे सभित्तिमानं कथितं मुनीन्द्रैः ॥
ग्राह्यं सगर्भं यदि मध्यदेशे तथापि चाग्निर्नृपचौरभीतिः।
उद्बन्धनं घातविघातमेव इदं हि वाक्यं कथितं वशिष्ठैः ॥

गृहपिण्डसीमाकृते नारदः—

केचिद्वदन्ति दैवज्ञा गर्भमात्रं गृहं शुभम् ।
गृहं हि भित्तिसहितं श्रेष्ठं देवर्षिसम्मतम् ॥

गृहोपस्करणविषये कालिदासः—

उलूखलं पिष्टयन्त्रमग्निस्थानं जलाशयम् ।
वेश्मनोर्दक्षिणे पार्श्वे पितृणां पादशौचनम्[२] ॥

अथ गृहे स्रावमाह नारदः—

गृहादीनां गृहस्रावं[३] क्रमशोऽष्टविधं स्मृतम्।
पाञ्चालमानं वैदेहं कौरवञ्च कुजन्यजम् ॥
मागधं शूरसेनं च गान्धारावान्तिकं स्मृतम् ।
तच्चतुर्भागविस्तारसोत्सेधं यत्तदुच्यते ॥
पाञ्चालमानं सर्वेषां साधारणमतः परम् ।
आवन्तिमानं विप्राणां गान्धारं क्षत्रियस्य च ॥

---

१. मगधाख्यदेशे इति पाठो भवितव्यः।

२. पितृपूजनस्थान।

३. जल का प्रवाह।

कौज्यमानं तु वैश्यानां विप्रादीनां यथोत्तरम् ।
यथोदितं जलस्रावं द्वित्रिभूमिकवेश्मनाम् ॥

पूर्वे वहति यत्किञ्चिदग्निकोणे धनक्षयम् ।
दक्षिणे प्राणसन्देहो नैऋत्ये प्लवघातकम् ॥

पश्चिमे पुत्रनाशाय वायव्ये सुखमेव च ।
उत्तरे राजसम्मानमीशाने सुखसम्पदः ॥

अजिरविचारो वास्तुशास्त्रे—

दीर्घविस्तारसंख्यैक्ये चाष्टभिर्गुणिते तथा ।
नवभिस्तु हरेद्भागं शेषं तस्करतो भवेत् ॥

तस्कर-भोग-विचक्षण-दाता-नृपति-नपुंसकाः ।
अभयश्चैव दारिद्र्यं धनाढ्यं नवमं भवेत् ॥

इदमेव गृहचिन्तामणौ यथा—

गृहविस्तारसंख्यैक्ये गुणिते चान्द्रमानतः ।
नवभिस्तु हरेद्भागं शेषमाजिरमुच्यते ॥

दाता विचक्षणो भीरुः कलहो नृपदानवौ ।
क्लीबश्चौरो धनी चेति नामतुल्यफलप्रदम् ॥

अत्रैव गृहस्रावोऽपि—

धन-धान्यमीशान-वायव्यकोणे
तथा चोत्तरे चोत्तमं मङ्गलं स्यात् ।
नृणामालये वारिसञ्चारपाथो
विलं कर्तुमाहुर्धरादेव चान्यः ॥

घर से जलप्रवाह-नाबदान का फल, शेष स्पष्ट है ।

चन्द्रवासः—

तिथिः पञ्चगुणा कार्या वारर्क्षेण समन्विता ।
वह्निभिस्तु हरेद्भागं शेषांके फलमादिशेत् ॥

एकशेषे वसेत्स्वर्गे द्विशेषे तु रसातले ।
शून्यशेषे मृत्युलोके चन्द्रवासः प्रजायते ॥
रसातले यदा चन्द्रः पञ्चकर्म विवर्जयेत् ।
कूपवाप्यादिकारम्भे जलं चैव न जायते ॥
बीजोप्तौ बीजनाशः स्याद् यात्रायां कार्यनाशनम् ।
विद्यारम्भे भवेन्मूर्खस्तस्माच्चन्द्रं विचारयेत् ॥

अत्रैव जलाशयारम्भे जलज्ञानम्—

तिथिवारञ्च नक्षत्रं चैकीकृत्य युगैर्भजेत् ।
चैकशेषे नागलोके द्विशेषे सलिले जलम् ॥

प्रकारान्तरम्—

एकशेषे जलं नास्ति द्विशेषे जलबाहुलम् ।
तृतीये तु जलं पूर्णं शून्ये शून्यजलं भवेत् ॥

कूपे निर्झरज्ञानम्—

नृग्रामदिक्स्वरैक्ये तु सूर्यर्क्षेण समन्वितम् ।
नागैश्च विभजेच्चैव पूर्वादौ निर्झरो वदेत् ॥
तिथिवारञ्च नक्षत्रं वेदाढ्यञ्च वसूद्धृतम् ।
शेषात्पूर्वादितो दिक्षु निर्झरः कूपकर्मणि ॥

राशिवशाज्जलज्ञानम्—

नृचतुष्पादकीटाख्याज्जलहस्तप्रमाणकम् ।
नृराशौ तु चतुर्विंशे द्वाविंशे च चतुष्पदे ॥
कीटे तथोनविंशाख्येऽष्टाविंशे च वारिभे ।
कूपवाप्यादिकार्येषु जलयोगं विनिर्दिशेत् ॥

पुनस्तत्रैव प्रकारान्तरम्—

तिथिवारञ्च नक्षत्रं नामाक्षरसमन्वितम् ।
अष्टभिर्गुणितं चैव षट्त्रिंशेन विभाजितम् ॥
हस्तशेषप्रमाणेन जलं प्रोक्तं पुरातनैः ॥

८ × (तिथि + वार + नामाक्षर) ÷ ३६ शेषतुल्य हाथ के नीचे जल होगा।

जलाशये कीदृशी मृत्तिका स्यादिति ज्ञानम्—

द्विगुणं दिक्स्वरं कृत्वा ग्रामस्वरसमन्वितम्।
वसुभिश्च हरेद्भागं शेषांके फलमादिशेत् ॥

एकादिशेषक्रमेण—

कृष्णा पीताऽरुणा शुभ्रा केङ्करं[1] घोघिलं[2] तथा ।
वालुका निर्मला चैव इत्युक्तं ब्रह्मयामले ॥

पुनर्जलविषये—

नक्षत्रतिथिवारञ्च कर्तुर्नामाक्षरैर्युतम् ।
वेदैश्च विभजेद्धीमान् शेषाङ्के फलमादिशेत् ॥
एकशेषे जलं पूर्णं द्विशेषे कर्करान्वितम्[3] ।
वालुका वह्निशेषे तु शून्ये शून्यफलं भवेत् ॥

दीपद्वारा जलज्ञानम्—

ईशानादिचतुर्दिक्षु दीपं प्रज्वालयेद्बुधः ।
दीपः कर्दमसंल्लग्नस्तत्राम्बुश्च प्रजायते ॥

---

१. कंकड़मिश्रित।
२. कठोरगिली = क्वेटी मिट्टी।
३. कर्करा = सोहरा = बालुका द्रव।

जलज्ञानार्थं प्रकारबाहुल्येन यत्र भूमौ फलमागच्छेत्, तत्रैव साधुजलं वाच्यम्, वा यत्र गणितेन सह नामाक्षरसंयोगः क्रियते, तत्र च ग्रहणं दिशाग्रहणं ग्रामाद् गृहाद्वाऽप्यथवा दिग्नामोच्चारणादिति।

गृहे सूर्यचन्द्रवेधविचारः—

दक्षिणोत्तरयोर्दैर्घ्यं वेधश्चान्द्रमसस्तथा ।
पूर्वपश्चिमयोर्दैर्घ्यं वेधः कमलिनीपतेः ॥
ग्रामे क्षेत्रे गृहे वेद्यां तडागे वाटिकासु च ।
शुभदश्चन्द्रवेधः स्याद्रवेः कोष्ठेऽग्निजीविनाम् ॥
जलाशये रवेर्वेधः गृहे चन्द्रमसः शुभः ।
वाटिकायां द्वयोर्वेधमिति विज्ञा वदन्ति च ॥
न गृहद्वयसंयोगं कुर्युः खलु मनीषिणः ।
गृहत्रयाणां संयोगो भवेच्छुभफलप्रदः ॥
गृहभित्तिषु ये लग्नास्ते गृहा गृहिणां सदा ।
भयदाः पुत्रसन्तापकारकास्तन्न कारयेत् ॥
अजिरे गृहबाह्ये तु चालिन्दं गृहरक्षकम् ।
अनेकस्तम्भकलशैर्युतं कुर्यात्समाहितः ॥

मण्डलेशज्ञानं यथा—

स्वामिहस्तप्रमाणेन दीर्घविस्तारसंयुतम् ।
द्विगुणं चाष्टभिर्भक्तं मण्डलेशाः प्रकीर्तिताः ॥
इन्द्रो विष्णुर्यमो वायुः कुबेरो धूर्जटिस्तथा ।
धाता गणेश्वरश्चैते मण्डलेशाः फलप्रदाः ॥

एतेषां फलम्—

इन्द्रः सौख्यं यशो विष्णुर्यमो दुःखं निरन्तरम् ।
धूर्जटिः कलहश्चैव कुबेरो धनमद्भुतम् ॥

वायुरुत्पातमादत्ते सर्वसिद्धिं गणाधिपः ॥

व्ययज्ञानम्—

गृहभं वसुभिर्भक्तं व्ययशेषं प्रकीर्तितम् ।
पूर्वादिदिक्षु शालांकाश्चन्द्रो बाहुः कृता गजाः ॥

साधितगृहपिण्डतो दीर्घविस्तारानयनम्—

विस्तारेण हरेत्पिण्डं दीर्घं दीर्घेण विस्तृतिः ।
शेषं चतुर्विंशतिभिर्गुणितं विस्तारेणैव भाजितम् ॥
अङ्गुलं शेषमष्टघ्नं विस्तारेण विभाजितम् ।
यवो भवत्यङ्गुलादीन् दीर्घे देयान्न विस्तृतौ ॥

केचिद्धस्तसम्बन्धे —

गृहं स्वामिहस्तप्रमाणेन कार्यं तथा सूनुहस्तेन भार्याकरेण ।
सुहृद्धस्तमानेन पुत्रप्रियायाः करेणैव सद्मं प्रकुर्यात्सुखार्थी ॥
गुरोः पुरोधसश्चैव तथा भ्रातृकरेण वै ।
भूमिपालस्य हस्तेन गृहमानं महीसुराः ॥

प्रथमं गृहारम्भस्य दिङ्निरूपणम्—

उदीचीं विन्यसेदादौ पश्चाद्याम्यन्तु विन्यसेत् ।
तद्गृहं विद्यते तत्र पुत्रदारादिनाशनम् ॥
दक्षिणेऽन्ते दिग्विषये भवनेऽर्थक्षयोऽङ्गनादोषः ।
सुतमरणं प्रेक्षत्वे भवति सदा तत्र वासिनां पुंसाम् ॥

भवन-निर्माण की समाप्ति दक्षिण में होने से अर्थक्षय व स्त्रीदोष होता है। देव-दृष्टि होने से पुत्र की मृत्यु होती है।

पुनस्तदेव—

प्रथमं दक्षिणे कार्यं पश्चात्कुर्यात्तथोत्तरम् ।
तथैव पश्चिमे पूर्वे कृतमध्यगतं गृहम् ॥
तथैव सुखदं प्रोक्तं सदनं पश्चिमे स्थितम् ॥

वेध-सम्बन्धे—

अदर्शनेन दीवारे दूरे वा समभूमिषु ।
न वेध्यन्ते गृहाः सर्वे यथोक्तदिशि संस्थिताः ॥

घर की वेधकारक जो वस्तु बताई गई है, यदि वह दीवार के आवरण से दृष्ट न हो या समतल भूमि पर भी वेधकारक दूर हो, तो वेध प्रभावित नहीं होता है।

दशाविचारे स्थाननिर्णयः—

कुर्याद्गृहात्तडागाच्च दशा चिन्त्या तथा पुरात् ।
गेहाच्च शुभदं स्थानं सर्वस्थानाच्छुभप्रदम् ॥
नृग्रामदिग्वर्गमिताङ्कयोगे सूर्याद्दशेशात् ।
नवभिर्विभक्ते - - - - - - - - - - - - - - - - ॥

इत्यादि से दशा-ज्ञान हेतु ग्राम-नाम-दिशा की वर्णसंख्या के योग में नव से भाग देने से शेष सूर्यादि यथाक्रम सूर्य, चन्द्र, भौम, राहु, गुरु, शनि, बुध, केतु व शुक्र दशेश होते हैं।

दशाविचार में अपने गृह, तड़ाग, कूप, देवमन्दिर, यथासम्भव सभी स्थानों से शुभग्रह की दशा होनी चाहिए। यदि सभी स्थानों से सम्भव न हो, तो जितना भी अधिक से अधिक हो सके अथवा अपने घर से तो दशा उत्तम होनी ही चाहिए।

दशा के आनयन में अनेक भ्रान्तियाँ है— कोई अवर्गादिकों के स्वरांक लेते हैं। यहाँ विचारणीय विषय यह है कि तिथि, वार के जोड़ने की जहाँ व्यवस्था

है, वहाँ तिथि व दिनों की क्रमसंख्या ही लेते हैं, वैसे ही यहाँ भी दशानयन श्लोक में "वर्ग-मितांक" यह शब्द वर्ग की क्रम-संख्या का ही बोधक होता है। अतः निःसंकोच भ्रान्तिरहित वर्गक्रम का ग्रहण करना चाहिए। यथा अ वर्ग से १, क वर्ग से २, च वर्ग से ३ इत्यादि व्यवहार ही सिद्धान्त पक्ष है। और विंशोत्तरी दशा ही मध्य प्रदेश, गंगा, गण्डकी के मध्यवर्ती भाग में प्रशस्त है।

गृह में दशेशों का फल—

उद्विग्नचित्तः परिपूर्णवित्तो वह्न्याभिभूतो ज्वरपीडिताङ्गः ।
सौख्यान्वितो रोगयुतः सुखाढ्यो दुःखान्वितः सर्वसुखान्वितश्च ॥

ग्रामादिवासे काकिणीविचारो यथा—

निवासे नूतने हर्म्ये ग्रामे वा कोशवर्द्धने ।
कुर्याद्विचारं काकिण्या दशा प्रागनगरे शुभा ॥
स्ववर्गं द्विगुणं कृत्वा परवर्गञ्च योजयेत् ।
अष्टभिस्तु हरेद्भागो योऽधिकः स ऋणी भवेत् ॥

यहाँ काकिणी-विचार में वर्गसंख्या का ही ग्रहण करना चाहिए।
उदाहरण—

देवदत्त नाम का व्यक्ति यदि काशी में बसे, तो लाभ या हानि है?

नाम का वर्ग तवर्ग, इसकी संख्या = ५ है व काशी का कवर्ग, इसकी संख्या = २ है।

नामवर्ग-संख्या = ५, ग्राम वर्ग-संख्या = २

$$\frac{५ \times २ + २}{८}$$

$$= \frac{१२}{८}$$

शेष =४ यह देवदत्त की संख्या हुई। ग्राम-वर्ग की संख्या =

$$\frac{२ \times २ + ५}{८}$$

$= \frac{९}{८}$ = शेष = १ यह ग्राम की संख्या हुई।

यहाँ देवदत्त की संख्या अधिक होने से काशी में देवदत्त का निवास लाभदायक नहीं होगा। इसी प्रकार सर्वत्र विचार करे।

दूसरी रीति यह है कि देवदत्त की संख्या प्रथम और ग्राम संख्या बाद में लिखने से देवदत्त का अंक बनेगा।

जैसे—

$\frac{५२}{८} =$ लब्धि त्याज्य व शेष = ४ यह देवदत्त का अंक हुआ

एवम्— $\frac{२५}{८}$

ग्रामांक = लब्धि त्याज्य, शेष = १, यह ग्राम की संख्या हुई। यह फल भी पूर्व के अनुसार ही है।

सर्वशुद्ध परम्परानुगत उत्तमोत्तम नव नक्षत्रों के ३६ पिण्डों की सारिणी दी जाती है। इस सारिणी के अनुसार अभीष्ट हाथ सम्बन्धी क्षेत्रफल बनाने की युक्ति यह है कि २१६ भाग-हर को अभीष्ट विस्तारोपयोगी क्षेत्रफल साधन के लिए बार-बार इष्ट पिण्ड में जोड़ते जाना चाहिए।

जैसा कि किसी की आर्द्रा नक्षत्र से गणना बनती है, तो आर्द्रा के चार पिण्डों में उत्तम प्रथम लघुपिण्ड १२९ है और ३३ विस्तार का गृह बनाने हेतु निम्न प्रक्रिया का उपयोग करे—

लघु-पिण्ड = १२९

भागहर = २१६ को ४ से गुणने पर = ८६४ अंक हुआ।

इसे लघुपिण्ड १२९ में जोड़ने पर ९९३ बृहत्क्षेत्रफल हुआ; परन्तु इसमें विस्तार से भाग देने पर दीर्घ-मान विस्तार से न्यून आएगा। आना चाहिए था अधिक, अतः पुनः २१६ सिद्धांक ९९३ में जोड़ने पर २१६ + ९९३ = १२०९ यह सिद्धांक हुआ, इसमें ३३ विस्तार से भाग दिया तो—

३३) १२०९ (३६ हाथ, १५ अंगुल, $\frac{२४}{११}$ व्यंगुल,

९९
______
२१९
१९८
______
२१
× २४ अंगुल
______
५०४
३३
______
१७४
१६५
______
९
× ८ व्यंगुल
______
७२
६६
______
६

= ३६ हाथ, १५ अंगुल, $\frac{२४}{११}$ व्यंगुल हुआ। पुनः २१६ को सिद्धांक में जोड़ने से—

१२०९ + २१६ = १४२५

यह सिद्धांक हुआ। पूर्ववत् गणित करने पर--

३३) १४२५ (४३ हाथ, ४ अंगुल, २ + $\frac{१०}{११}$ व्यंगुल

१३२

१०५

९९

६

×२४ अंगुल

१४४

१३२

१२

× ८ व्यंगुल

९६

६६

३०

इस प्रकार सर्वथा विस्तार से भाग देना चाहिए; क्योंकि अंगुलादि दीर्घ के ही साथ रहेगा, विस्तार के साथ नहीं— "न विस्तारे कदाचन"।

व्यवहार में एक यह भी असुविधा आ सकती है कि जो दीर्घ आया है, उतनी भूमि उपलब्ध न हो, तो अनुमान से दूसरे पिण्ड द्वारा अभीष्ट दीर्घ-साधन में बुद्धि का उपयोग करे; क्योंकि विधि पूर्ववत् है।

गृहपिण्डसारिणी

नक्षत्र	बृहत् क्षेत्रफल	लघु-पिण्ड	आय	वार	अंश	द्रव्य	ऋण	नक्षत्र	तिथि	योग	आयु
	७७७	१२९	१	६	९	१२	३	६	१२	३	७२
आर्द्रा	९३९	७५	३	३	९	१२	१	६	१५	३	१२०
	११०१	२१	५	७	९	१२	७	६	३	३	४८
	१२६३	१८३	७	२	९	१२	५	६	९	३	२४

नक्षत्र पुनर्वसु

बृहत् क्षेत्रफल	लघु-पिण्ड	आय	वार	अंश	द्रव्य	ऋण	नक्षत्र	तिथि	योग	आयु
१२९	६५	१	४	३	४	३	७	१०	१७	४०
१०९१	११	३	१	३	४	१	७	१३	१७	८८
१२५३	१७३	५	३	३	४	७	७	४	१७	६४
१४१५	११९	७	७	३	४	५	७	७	१७	११२

नक्षत्र पुष्य

बृहत् क्षेत्रफल	लघु-पिण्ड	आय	वार	अंश	द्रव्य	ऋण	नक्षत्र	तिथि	योग	आयु
१०८१	१	१	२	६	८	३	८	८	४	८
१२४३	१६३	३	४	६	८	१	८	१४	४	१०४
१४०५	१०९	५	१	६	८	७	८	२	४	३२
१५६७	५५	७	५	६	८	५	८	५	४	८०

नक्षत्र आश्लेषा

बृहत् क्षेत्रफल	लघु-पिण्ड	आय	वार	अंश	द्रव्य	ऋण	नक्षत्र	तिथि	योग	आयु
१२३३	१५३	१	५	९	१२	३	९	९	१८	२४
१३९५	९९	३	२	९	१२	१	९	१२	१८	७२
१५५७	४५	५	६	९	१२	७	९	१५	१८	१२०
१७१९	२०७	७	१	९	१२	५	९	६	१८	९६

नक्षत्र मघा

बृहत् क्षेत्रफल	लघु-पिण्ड	आय	वार	अंश	द्रव्य	ऋण	नक्षत्र	तिथि	योग	आयु
१३८५	८९	१	३	३	४	३	१०	७	५	११२
१५४७	३५	३	७	३	४	१	१०	१०	५	४०
१७०९	१९७	५	२	३	४	७	१०	१	५	१६
१८७१	१४३	७	६	३	४	५	१०	४	५	६४

नक्षत्र	बृहत् क्षेत्रफल	लघु-पिण्ड	आय	वार	अंश	द्रव्य	ऋण	नक्षत्र	तिथि	योग	आयु
पूर्वाफाल्गुनी	१५३७	२५	१	१	६	८	३	११	५	१९	८०
	१६९९	१८७	३	३	६	८	१	११	११	१९	५६
	१८६१	१३३	५	७	६	८	७	११	१४	१९	१०४
	२०२३	७९	७	४	६	८	५	११	२	१९	३२

नक्षत्र	बृहत् क्षेत्रफल	लघु-पिण्ड	आय	वार	अंश	द्रव्य	ऋण	नक्षत्र	तिथि	योग	आयु
शतभिषा	३५१३	५७	१	२	९	१२	३	२४	६	१२	९६
	३६७५	३	३	६	९	१२	१	२४	९	१२	२४
	३८३७	१६५	५	१	९	१२	७	२४	१५	१२	१२०
	३९९९	१११	७	५	९	१२	५	२४	३	१२	४८

नक्षत्र	बृहत् क्षेत्रफल	लघु-पिण्ड	आय	वार	अंश	द्रव्य	ऋण	नक्षत्र	तिथि	योग	आयु
पूर्वाभाद्रपद	३६६५	२०९	१	५	३	४	३	२५	७	२६	११२
	३८२७	१५५	३	२	३	४	१	२५	१०	२६	४०
	३९८९	१०१	५	६	३	४	७	२५	१३	२६	८८
	४१५१	४७	७	३	३	४	५	२५	१	२६	१६

नक्षत्र	बृहत् क्षेत्रफल	लघु-पिण्ड	आय	वार	अंश	द्रव्य	ऋण	नक्षत्र	तिथि	योग	आयु
	३८१७	१४५	१	३	६	८	३	२६	५	१३	८०
	३९७९	९१	३	७	६	८	१	२६	८	१३	८
उत्तराभाद्रपद	४१४१	३७	५	४	६	८	७	२६	११	१३	५६
	४३०३	१९९	७	६	६	८	५	२६	२	१३	३२



गृहस्वामी व गृह के नक्षत्र से मेलापक
(गृह के स्वामी का नक्षत्र)

गृह का नक्षत्र

	अ.	भ.	कृ. १	कृ. ३	रो.	मृ. २	मृ. २	आर्द्रा	पुन. ३	पुन. १	पुष्य	आश्ले.	म.	पू. फा.	उ.फा. १	उ. फा. ३	ह.	चि. २	चि. २	स्वा.
आर्द्रा	२७	२७	२१	१८.५	२४.५	२६	३४	०	३३	२१	२०.५	१३.५	३३.५	२६.५	३०.५	३२.५	३२.५	२७	२०	२७
पुन.	२७	२६	२३	२०.५	२३.५	२४.५	३२.५	२४.५	०	०	२३	१६.५	२२.५	२७.५	२९.५	३१.५	३२.५	२५.५	१८.५	२७
पुष्य	३०.५	२९.५	२६.५	२३	२४	२५	१८	१८	२१.५	३५	०	३०	१०.५	२२.५	२३.५	२६	२७	२०.५	१९.५	२६
आश्लेषा	२५	२३.५	२२.५	२७	२०	२१	१३	१२	१५	२८.५	२८.५	०	१५	१५.५	१७.५	२०.५	२०.५	२६	२५.५	१९.५
मघा	२१	२१	२५.५	२६.५	१९.५	१९.५	२२.५	२२.५	२१.५	१६.५	१८.५	१६	०	३०	२२	१६.५	१६.५	२२.५	२५.५	१९.५
पू. फा.	२७	२७	२१	२२	२५.५	२५.५	२८.५	२८.५	२७.५	२२.५	१९.५	१६.५	३०	०	३४	२४	२२.५	१६.५	१९.५	२५.५
हस्त	२३	२१	२८	३२.५	२५.५	२५	१८	१८	२१	१५.५	२५	२०	२६.५	२०.५	२१.५	१९.५	१६.५	२६	२६	१९
पू. भा.	२६	२५	२०	२४.५	३१.५	३१.५	२४.५	२५	२५	२१.५	२०.५	१४	१९.५	२५.५	२४.५	२३.५	२५.५	१८.५	१९.५	२८
उ. भा.	२४.५	२३.५	१८.५	२१	२५	२५	२४.५	२५.५	२७	२६	२७	२०	१७.५	२३.५	२५.५	२७.५	२६	१७.५	१३	१९.५

गृहस्वामी व गृह के नक्षत्र से मेलापक

(गृह के स्वामी का नक्षत्र)

	चि ३	चि १	अ.	ज्ये.	मू.	पू. षा. १	पू. षा. ३	उ. षा. १	उ. षा. ३	अभि.	श्र.	ध. २	ध. २	श.	पू. भा. ३	पू. भा. १	उ. भा.	रे.
आर्द्रा	२०	१३.५	१७	१२	२४	२८	२७	२७	२२.५	२२.५	२२.५	१७	२०	१९	२४	२७	२७	२७
पुन.	२१	१३.५	२०.५	१३	२१	२७	२६	२७	२२.५	२३.५	२३.५	१७.५	१८.५	१९.५	२५.५	२७.५	२७.५	२८
पुष्य	२१	२०	२७	२२	१७	१९	१९	२२.५	२६	२५	२५	२१	१२.५	१४.५	१८	२४	२६	२७
आश्लेषा	२४.५	२३.५	२०	२६	२२.५	१६	१६.५	८.५	१२	२१	२१	२७	१८.५	१८.५	१२.५	१८.५	२०	२०
मघा	२५.५	३२.५	२६.५	३४	२४	२०	२१	१९	१३.५	१३.५	१२.५	१८.५	२४.५	२५.५	१८.५	१७.५	१८.५	२०
पू. फा.	२९.५	२६.५	२४.५	२४.५	१९	२६	२७	२७	२१	२६.५	२६.५	१२.५	१९.५	१९.५	२४.५	२३.५	२४.५	२४.५
उफा.	२६	२६.५	२१	२९.५	३०.५	२६.५	२३.५	२३.५	१८.५	१८.५	१८.५	२५	३३.५	०	२७	१७	१७	१९.५
उ. फा.	२९	२९.५	२५.५	२०.५	२३.५	३१.५	३०.५	२९.५	२४.५	२५.५	२५.५	२०.५	२५.५	२७	०	०	२३	२०.५
ह. फा.	२२	१९.५	२८	२२	२४	३०	३०.५	३१.५	२९.५	२६.५	२९.५	२२.५	१४	१६.५	२१.५	३३	०	३४

[सारिणी का अभोग पूर्वनिर्दिष्ट है ।]

(गृह का नक्षत्र)

